कबीर

का

रहस्यवाद

डॉ. रामकुमार वर्मा

कबीर
का
रहस्यवाद

कबीर का रहस्यवाद

[कबीर के दार्शनिक विचारों का गंभीर विवेचन]

•

[संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण]

•

डॉ० रामकुमार वर्मा

साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड
इलाहाबाद - 3

●

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड,
इलाहाबाद-३

●

प्रथम संस्करण : १९२९
ग्यारहवां संस्करण : १९७२

●

मुद्रक : सुपरफ़ाइन प्रिन्टर्स
१-सी. बाई का बाग, इलाहाबाद-३
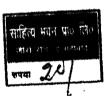
श्रीमान् डाक्टर ताराचन्द

एम० ए०, डी० फिल्० (ऑक्सन)

की

सेवा में सादर

समर्पित

—रामकुमार वर्मा

ग्यारहवां संस्करण

मुझे प्रसन्नता है कि इस पुस्तक ने कबीर की कविता और उसके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ दूर की हैं। अब यह पुस्तक नये संस्करण में विद्वानों की सेवा में जा रही है।

बहुत दिनों से इच्छा थी कि इस ग्रंथ को विद्यार्थियों की दृष्टि से अधिक सम्पन्न बनाया जाय। रहस्यवाद विषय अन्तर्जगत् का है, उसकी अनुभूति अनिर्वचनीय है, किन्तु उस अनुभूति की भूमिका स्पष्ट करना आवश्यक है। रहस्यवाद की पृष्ठभूमि इस संस्करण में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। आशा है, विद्यार्थियों को यह संस्करण अधिक लाभ पहुँचा सकेगा।

प्रयाग,
कबीर आविर्भाव दिवस
१९७२

रामकुमार वर्मा

● रहस्यवाद आत्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। ●

विषय-सूची

प्रकरण १

कबीर के पूर्व की स्थिति

पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारंभ हिन्दी भाषा और साहित्य की श्री-संपन्नता का मंगलाचरण है। उस काल में जन-समुदाय की मनोवृत्ति ऐसे मार्गों का अन्वेषण करने लगी थी जिनमें वह प्राचीन काल से आई हुई, धर्म और दर्शन की अनुभूतियों को भाषा के माध्यम से पुनः प्रकट कर सके।

धर्म और दर्शन की अनुभूतियाँ प्राचीन काल से ही मध्यदेश में पल्लवित और पुष्पित होती रही थीं किन्तु वे शास्त्रीय बंधनों में इतनी अधिक जकड़ी हुई थीं कि साधारण जनता उनके स्वस्थ स्पंदन का अनुभव नहीं कर सकी थी। वे केवल वर्गगत पुनीत परिवेशों में सीमित रह कर पवित्र सूक्तों और सूत्रों से अपना आलोक फैलाती रहीं जैसे किसी अँगूठी में कोई रत्न जड़ा हो और वह किसी मंजूषा में बन्द हो। उनका आलोक सूर्य की किरण की तरह सार्वभौम नहीं था। यही कारण है कि आठवीं शताब्दी के लगभग यह दार्शनिक और धार्मिक परम्परा मध्यदेश से अपना महत्त्व खोकर दक्षिण की ओर चली गई और दक्षिण के सन्तों और आचार्यों की प्रतिभा में अपने विकास का मार्ग खोजने लगी। यदि ये परम्पराएँ मध्यदेश की जनता के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों का रूप ग्रहण कर लेतीं तो यह संभव नहीं था कि आठवीं शताब्दी में मध्यदेश अपने धार्मिक और दार्शनिक विचारान्वेषण का नेतृत्व खो देता।

मध्यदेश में ही सांस्कृतिक रचनाओं का केन्द्र स्थापित हुआ था। यहीं से बौद्ध धर्म, जैन धर्म और भारतीय दर्शन के संसार व्यापी सिद्धान्त प्रसारित हुए थे किन्तु ये धर्म अपनी पवित्रता के बंधन में धीरे-धीरे बहुत संकीर्ण होते गये। इसके साथ ही इन धर्मों में परस्पर विरोध की शक्तियाँ भी उठ खड़ी हुईं। विशेषतः बौद्ध और ब्राह्मण धर्म में एक

प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता-सी चल पड़ी। जब किसी राजवंश द्वारा कोई धर्म स्वीकार कर लिया जाता था तो दूसरे धर्म की उन्नति का पथ अवरुद्ध हो जाता था। जब गुप्त वंश ने भागवत धर्म को राज्याश्रय दिया तो बौद्ध धर्म निश्चेष्ट-सा हो गया और जब गुप्त वंश के बाद हर्षवर्धन ने बौद्ध धर्म को प्रश्रय दिया तो भागवत या वैष्णव धर्म की गति शिथिल हो गई, यद्यपि हर्षवर्धन ने अपने दृष्टिकोण में धार्मिक सहिष्णुता को अवश्य स्थान दिया था। धीरे-धीरे उत्तर भारत में विशाल राज्यों की स्थिति बिखरने लगी थी और उनमें जनता के विश्वासों को प्रश्रय देने की शक्ति नहीं रह गई थी। फलतः धार्मिक और दार्शनिक परम्पराएँ क्षीण-सी होने लगी थीं। ऐसा लगता है कि मध्यदेश दार्शनिक और धार्मिक विचारों का सूत्रपात करके मौन-सा रह गया था और दक्षिण उन विचारों का संकेत पाकर जनता के हृदय की वाणियों में मुखर हो उठा था। मध्यदेश की पवित्र साधना दक्षिण में सिद्धि का रूप लेकर जन-मानस में चमक उठी थी।

ईसा की छठी शताब्दी से दक्षिण में आलवर सन्तों ने भावना-प्रवण गीतों के स्वरों में अपनी वैष्णव-उपासना की तरलता प्रवाहित की। यह विचार-धारा तमिल के शैव सन्तों की विचार-धारा के समानान्तर ही चलती रही। नम्मालवार (८ वीं शताब्दी) और नाथमुनि (१० वीं शताब्दी) ने तो आलवर-साहित्य की इतनी उन्नति की वह दक्षिण में वेदों के समान पवित्र समझा गया। नाथमुनि ने आलवरों के चार हज़ार पद संग्रहीत किये थे जिनसे भक्ति की अत्यन्त पावन और श्रद्धा-संपन्न भावनाएँ व्यक्त होती हैं। इन्हीं नाथमुनि के पौत्र श्री यामुनाचार्य थे जिनकी शिष्य परम्परा में श्रीरामानुजाचार्य हुए। श्री रामानुजाचार्य का समय १०५० ईस्वी से ११३५ ईस्वी माना गया है। इस भाँति दक्षिण में श्रीरामानुजाचार्य के पूर्व से जो आलवर सन्तों की वैष्णव और शैव की भक्ति-परम्पराएँ चल रही थीं, उनमें श्री शंकराचार्य ने ८ वीं शताब्दी में शैव-परंपरा स्वीकार की और श्री रामानुजाचार्य ने वैष्णव-परम्परा।

आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक दक्षिण ने ही भारतीय दर्शन और धर्म का जनता-व्यापी महत्त्व घोषित किया। धार्मिक सिद्धान्तों में परिष्कार और संशोधन करते हुए यहीं से शैव और वैष्णव सन्तों ने उपासना और भक्ति के विविध संप्रदाय प्रचारित किये। शंकर ने अद्वैत और रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के द्वारा इस विचार-धारा को सिद्धान्त-सम्मत बनाया और उन्हें शास्त्रीय मेरु-दण्ड प्रदान किया। इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि शंकर और रामानुज के सिद्धान्तों में जो दर्शन की विशेषता पाई जाती है, वह आलवरों के पदों में नहीं है। उनमें तो एक मात्र अनन्य भक्ति के दर्शन होते हैं। तर्कमय साधना के स्थान पर आलवरों ने ईश्वरानुभूति विशुद्ध प्रेममयी श्रद्धा और विश्वास पर ही अपनी साधना को केन्द्रीभूत किया है। यही भक्ति का प्रमुख लक्षण भी है। ऐसा ज्ञात होता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में जो निर्गुण सम्प्रदाय के अंतर्गत भक्ति की अनुभूति दृष्टिगत होती है, वह इन आलवर सन्तों के दृष्टिकोण और श्रद्धा-सम्पन्न आत्म-समर्पण की युगानुकूल पुनरावृत्ति ही है। निर्गुण सम्प्रदाय में शंकराचार्य के ज्ञान और रामानुजाचार्य की भक्ति का विचित्र संयोजन है, किन्तु भक्ति की नैसर्गिक मानसिक प्रगति में जिस रहस्यवाद की सृष्टि हुई है, उसमें ज्ञान और तर्क के लिए कोई स्थान नहीं रहा। यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद की सांकेतिक प्रवृत्ति निर्गुण सम्प्रदाय को सिद्धों और नाथों से भी प्राप्त हो सकती है किन्तु सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय में प्रेम और आत्म-समर्पण की वह विह्वल अभिव्यक्ति नहीं है जो एक ओर तो दक्षिण के आलवर सन्तों में है और दूसरी ओर निर्गुण सम्प्रदाय के रहस्यवादी कवियों में। भक्ति के इस विश्वास-संवलित आत्म-समर्पण का श्रेय अधिकांश में रामानन्द को है जो दक्षिण के आलवर विचार-धारा से प्रेरित रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे। इस भाँति प्रकारान्तर से निर्गुण सम्प्रदाय की भक्ति-साधना का सम्बन्ध आलवरों की भक्ति-साधना से जुड़ जाता है और निष्कर्ष यह निकलना चाहिए कि धर्म, दर्शन, राजनीति और समाज की

उलझनों से सुलझता हुआ दक्षिण भारत का श्रद्धा और भक्ति का यह बीज पाँच शताब्दियों बाद उत्तर भारत में निर्गुण सम्प्रदाय के अंतर्गत पल्लवित और पुष्पित हुआ जिसके सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर थे।

●

प्रकरण २

कबीर का अवतरण

कहत कबीर यहु अकथ कथा है,
कहता कही न जाई।
—कबीर

कबीर के समालोचकों ने अभी तक कबीर के शब्दों को तानपूरे पर गाने की चीज ही समझ रक्खा है पर यदि वास्तव में देखा जाय तो कबीर का विश्लेषण बहुत कठिन है। यह इतना गूढ़ और गम्भीर है कि उसकी महत्ता का परिचय पाना एक प्रश्न हो जाता है। साधारण समझने वालों की बुद्धि के लिए वह उतना ही अग्राह्य है जितना कि शिशुओं के लिए मांसाहार। ऐसी स्वतन्त्र प्रवृत्ति वाला कलाकार किसी साहित्य-क्षेत्र में नहीं पाया गया। वह किन-किन स्थलों में विहार करता है, कहाँ-कहाँ सोचने के लिए जाता है, किस प्रशान्त वन-भूमि के वातावरण में गाता है, ये सब स्वतन्त्रता के साधन उसी को ज्ञात थे, किसी अन्य को नहीं। उसकी शैली भी इतना अपनापन लिये हुए है कि कोई उसकी नक़ल भी नहीं कर सकता। अपना विचित्र शब्द-जाल, अपना स्वतंत्र भावोन्माद, अपना निर्भय आलाप, अपने भाव-पूर्ण पर विचित्र चित्र, ये सभी उसके व्यक्तित्व से ओत-प्रोत थे। कला के क्षेत्र का सब कुछ उसी का था। छोटी से छोटी वस्तु अपनी लेखनी से उठाना, छोटी से छोटी विचारावली पर मनन करना उसकी कला का आवश्यक अंग था। किसी अन्य कलाकार अथवा चित्रकार पर आश्रित होकर उसने अपने भावों का प्रकाशन नहीं किया। वह पूर्ण सत्यवादी था; वह स्वाधीन चित्रकार था। अपने ही हाथों से तूलिका साफ़ करना, अपने ही हाथों चित्रपट की धूल झाड़ना, अपने ही हाथों से रंग तैयार करना—जैसे उसने अपने कार्य के

लिये किसी दूसरे की आवश्यकता समझी ही नहीं। इसीलिए तो उसकी कविता इतना अपना-पन लिये हुए है !

कबीर अपनी आत्मा का सबसे आज्ञाकारी सेवक था। उसकी आत्मा से जो ध्वनि निकली उसका निर्वाह उसने बहुत खूबी के साथ किया। उसे यह चिन्ता नहीं थी कि लोग क्या कहेंगे, उसे यह भी डर नहीं था कि जिस समाज में मैं रह रहा हूँ उस पर इतना कटुतर वाक्य-प्रहार क्यों करूँ ? उसकी आत्मा से जो ध्वनि निकली उसी पर उसने मनन किया, उसी का प्रचार किया और उसी को उसने लोगों के सामने जोरदार शब्दों में रक्खा। न उसने कभी अपने को धोखा दिया और न कभी समाज के कारण अपने विचारों में कुछ परिवर्तन ही किया। यद्यपि वह अपढ़ रहस्यवादी था, उसने 'मसि-कागद' छुआ भी नहीं था, तथापि उसके विचारों की समानता रखने वाले कितने कवि हुए हैं ? जहाँ कहीं भी हम उसे पाते हैं वहाँ वह अपने पैरों पर खड़ा है, किसी का लेश मात्र भी सहारा नहीं है।

काव्य के अनुसार जितने विभाग हो सकते हैं उतने विभागों को सामने रखिए, किसी विभाग में भी कबीर नहीं आ सकते। बात यह नहीं है कि कबीर में उन विभागों में आने की क्षमता ही नहीं है पर बात यह है कि उसने उनमें आना स्वीकार ही नहीं किया। उसने साहित्य के लिए नहीं गाया; किसी कवि की हैसियत से नहीं लिखा, चित्रकार की हैसियत से चित्र नहीं खींचे। जो कुछ भी उस रहस्यवादी के हृदय से निकला वह इस विचार से कि अनन्त शक्ति—एक सत्पुरुष—का सन्देश लोगों को किस प्रकार दिया जाय ? उस सत्पुरुष का व्यक्तित्व किस प्रकार प्रकट किया जाय ? ईश्वर की प्राप्ति के लिए किस प्रकार लोगों से भेद-भाव हटाया जाय ? "एक बिन्दु से विश्व रचो है को बाम्हन को सूद्रा" का प्रतिपादन किस प्रकार किया जाय ? सत्य की मीमांसा का क्या रूप हो सकता है ? माया किस प्रकार सारहीन चित्रित की जा सकती है ? यही उसका विचार था जिस पर उसने अपने विश्वास की मजबूत दीवाल उठाई थी।

कबीर की प्रतिभा का परिचय न पा सकने का एक कारण और है। वह यह कि लोग उसे अभी तक समझ ही नहीं सके हैं। 'रमैनी' और 'शब्दों' में उसने ईश्वर और माया की जो मीमांसा की है, वह साधारण लोगों की बुद्धि के बाहर की बात है।

दुलहिन गावहु मङ्गलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भतार।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पञ्च तत बराती,
रामदेव मोरे पाहुँने आये, में जोबन में माती।
सरीर सरोवर बेदो करिहूँ, ब्रह्म बेद उचार,
रामदेव संगि भाँवर लेहूँ, धनि धनि भाग हमार।
सुर तेतीसूँ कौतिक आए, मुनिवर सहस अठासी;
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी ॥[1]

साधारण पाठक इस रहस्यमयी मीमांसा को सुलझाने में सर्वथा असफल हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि जो 'उलटवाँसियाँ' कबीर ने लिखी हैं उनकी कुंजियाँ प्रायः ऐसे साधु और महंतों के पास हैं जो किसी को बतलाना नहीं चाहते, अथवा ऐसे साधु और महंत अब हैं ही नहीं।

निम्नलिखित उलटवाँसी का अर्थ अनुमान से अवश्य लगाया जा सकता है, पर कबीर का अभिप्राय क्या था, यह कहना कठिन है :—

अवधू वो तत्तु रावल राता।
नाचे बाजन बाजु बराता ॥
मौर के मांथे दुलहा दीन्हा।
अकथ जोरि कहाता ॥

1 कबीर ग्रंथावली (नागरी प्रचारिणी सभा), पृष्ठ ८७।

मँड़ये के चारन समधी दीन्हा,
पुत्र ब्याहिल माता ॥
दुलहिन लीप चौक बैठारी।
निर्भय पद परकासा ॥
भाते उलटि बरातिहिं खायो,
भली बनी कुशलाता।
पाणिग्रहण भयो भौ मंडन,
सुषमनि सुरति समानी।
कहहिं कबीर सुनो हो संतो,
बूझो पण्डित ज्ञानी ॥[1]

राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए० ने अपने कबीर शीर्षक लेख में इसे योग की परिस्थितियों का चित्रण माना है।[2]

एक बात और है। कबीर ने आत्मा का वर्णन किया, शरीर का नहीं। वे हृदय की सूक्ष्म भावनाओं की तह तक पहुँच गये हैं। 'नख-शिख' अथवा शरीर-सौन्दर्य के झमेले में नहीं पड़े। यदि शरीर-सौन्दर्य अथवा 'नख-शिख' वर्णन होता तो उसका निरूपण सहज ही में हो सकता था। ऐसा सिर है, ऐसी आँखें हैं, ऐसे कपोल हैं, अथवा कमल-नेत्र हैं, कलश-कर बाहु हैं, वृषभ कंध है। किन्तु आत्मा का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। उस तक पहुँच पाना बड़े-बड़े योगियों की शक्ति के बाहर है। ऐसी स्थिति में कबीर ने एक रहस्यवादी बन कर जिन-जिन परिस्थितियों में आत्मा का वर्णन किया है वे कितने लोगों की समझ में आ सकती हैं? शरीर का स्पर्श तो इन्द्रियों द्वारा किया जा सकता है पर आत्मा का निरूपण करना बहुत कठिन है। आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा ही आत्मा का कुछ

---

१ बीजक मूल (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस) सं० १९६९, पृष्ठ ७४-७५

२ कबीर—रायबहादुर लाला सीताराम बी० ए०, पृष्ठ २४
[कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२८]

परिचय पाया जा सकता है। आध्यात्मिक शक्तियाँ सभी मनुष्यों में नहीं रह सकतीं। इसीलिए सब लोग कबीर की कविता की थाह सफल रूप से कैसे ले सकेंगे ?

आत्मा का निरूपण करना कबीर के लिए कहाँ तक सफलता का द्वार खोल सका, यह एक दूसरा प्रश्न है। कबीर का सारभूत विचार यही था कि वे किस प्रकार मनुष्य की आत्मा को प्रकाश में ला दें। यह बात सत्य है कि कभी-कभी उस आत्मा का चित्र धुँधला उतरता है, कभी हम उसे पहिचान ही नहीं सकते। किसी स्थान पर वह काले धब्बे का रूप रखता है। किसी स्थान पर उस चित्र का ऐसा बेढंगा रूप हो जाता है कि कलाकार की इस परिस्थिति पर हँसने को जी चाहता है, पर अन्य स्थानों पर वह चित्र भी कैसा होता है ! प्रातःकालीन सूर्य की सुनहली किरणों की भाँति चमकता हुआ, उषा के रंगीन उड़ते हुए बादलों की भाँति झिलमिलाता हुआ, किसी अन्धकारमयी काली गुफा में किरणों की ज्योति की भाँति। इन विभिन्नताओं को सामने रखते हुए, और कबीर की प्रतिभा का वास्तविक परिचय पाने की पूर्ण क्षमता न होते हुए हम एक अन्धे के समान ढूँढ़ते हैं कि साहित्य में कबीर का कौन-सा स्थान है !

इसमें सन्देह है कि कबीर की कल्पना के सारे चित्रों को समझने की शक्ति किसी में आ सकेगी अथवा नहीं। कबीर की 'बानी' पढ़ जाने के बाद यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि कबीर के पास कुछ ऐसे चित्रों का कोष है जिसमें हृदय में उथल-पुथल मचा देने की बड़ी भारी शक्ति है। हृदय आश्चर्य-चकित होकर कबीर की बातों को सोचता ही रह जाता है, वह हतबुद्धि होकर अशान्त हो जाता है। उस समय कबीर की प्रतिभा एक अगम्य विशाल वन की भाँति प्रतीत होती है और पाठकों का मस्तिष्क एक भोले और अशक्त पथिक की भाँति।

अन्त में यही कहना शेष है कि कबीर ने दार्शनिक लोगों के लिए अपनी कविता नहीं लिखी। उन्होंने कविता लिखी है धार्मिक विचारों से

पूर्ण जिज्ञासुओं के लिए। समय बतला देगा कि कबीर की कविता न तो नीरस ज्ञान है और न केवल साधुओं के तानपूरे की चीज़। समालोचकगण कबीर की रचना को सामने रखकर उसके काव्य-रत्नाकर से थोड़े से रत्न पाने का प्रयत्न करें; चाहे वे जगमगाते हुए जीवन के सिद्धान्त-रत्न हों या आध्यात्मिक जीवन के झिलमिलाते हुए रत्न-कण।

प्रकरण ३

कबीर : एक विश्लेषण

इस देश के प्रमुख सन्तों में कबीर की मान्यता असन्दिग्ध है। उन्होंने जीवन के चिरन्तन सत्य को इतनी सरल और सुबोध वाणी में व्यक्त किया कि वह हमारे प्रति-दिन के अनुभव का सहज भाग बन सकता है। उन्होंने इतने व्यापक दृष्टिकोण से धर्म के मर्म को समझा है कि उसमें सम्प्रदाय या वर्ग की विभाजक सीमाएं मिट गई हैं और मानवता अपने छिन्न-भिन्न हुए जाति के विभेदों को भूल कर सम्बद्धता के जीवन की इकाई बन सकी है। उसमें हिन्दू-मुसलमान एवं ब्राह्मण और शूद्र अपने कर्मकांड और आडम्बर को छोड़ कर एक पंक्ति में खड़े हो गये हैं और अपनी व्यक्तिगत हीनता या महानता को छोड़ कर पारस्परिक समता और एकता के पाश में आबद्ध हो गये हैं। कबीर ने धर्म के मूल सिद्धान्तों की तुला पर मानवता को तोल कर सृष्टि के मध्य में उसका वास्तविक मूल्य निर्धारित किया है।

कबीर ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ऐसी काव्य-सृष्टि की है कि वह उनके विचारों के प्रतिपादन की शैली होकर जन-साधारण की समझ की वस्तु बन गई। धर्म के गूढ़ और जटिल सिद्धान्त जो भाषा और साहित्य के कठोर नियन्त्रण में सरलता से समझ में नहीं आते और जिनके लिये सतत अभ्यास करना पड़ता है तथा जो केवल पंडितों-विद्वानों की विचार-सम्पत्ति बने रहते हैं उन्हें कबीर ने जनता की भाषा और भाव-राशि में सजा कर बोधगम्य बना दिया है। कोई भी आन्दोलन या धार्मिक अभियान तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह जनता का मनोबल नहीं प्राप्त कर लेता। जनता का जागरण ही राष्ट्र का जागरण है। ऐसे बहुत से कवि हैं जो अपने पांडित्य और काव्य-कौशल से पठित वर्ग का मनोरंजन कर लेते हैं किन्तु तुलसी, सूर और कबीर जैसे बहुत कम कवि हैं जो अपनी उदात्त प्रतिभा के बल पर अशिक्षितों

और जन-साधारण का केवल मनोरंजन ही नहीं करते वरन् उनके विचारों का परिष्कार करके उन्हें प्रगति के पथ पर अग्रसर करते हैं। जन-साधारण की बातों में तत्व की बड़ी बात कह देना महाकवियों का ही काम है। ईश्वर संसार के कण-कण में व्याप्त है। परन्तु कोई भौतिकवाद का बड़े-से-बड़ा आलम्बन लेकर भी उस ईश्वर की अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकता। उसके समझने के लिये तो सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। अहंकार के विनाश की शर्त है, लघु होने की बात है। जो अपने को जितना छोटा समझेगा वह ईश्वर के उतने ही समीप होगा। वही उस रस को जान सकता है जो उस रस का ज्ञाता है, रसिक है। यह बात कबीर ने कितने सुन्दर ढंग से कही है :—

> हरि है खांड़ रेतु महि बिखरी, हाथी चुनी न जाई।
> कहि कबीर गुरि भली बुझाई, कींटी होई के खाई ॥

हरि तो खांड़ की तरह है जो संसार रूपी खेत में बिखर गयी है। मद से उन्मत्त मन-रूपी हाथी उसे नहीं चुन सकता। कबीर कहता है कि गुरु ने मुझे अच्छी युक्ति बतला दी है। मैं सूक्ष्म और सहज शक्ति से चींटी बन कर उस खांड़ को खा रहा हूँ।

हाथी, चींटी, खांड प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं जिन्हें अशिक्षित से अशिक्षित ग्रामीण समझ सकता है। कबीर ने हमारे देश के अशिक्षित और अल्प शिक्षित व्यक्तियों में धर्म की सच्ची भावना जगा दी। यह कार्य कितना अधिक सांस्कृतिक और राष्ट्रीय महत्व रखता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

एक बात और है। कबीर ने धर्म और जीवन में कोई भेद नहीं रहने दिया। जीवन की सात्विक अभिव्यक्ति ही धर्म का सोपान है। जिस धर्म के लिये जीवन की स्वाभाविक और सात्विक गति और मति में परिवर्तन करना पड़े उसे हम धर्म की संज्ञा नहीं दे सकते। अतः धर्म के नाम पर जो आडम्बर और कर्मकांड से परिपूर्ण धर्म फैला हुआ है, वह

धर्म नहीं है। धर्म तो जीवन की पवित्र और सहज अनुभूति का ही दूसरा नाम है। अतः धर्म जीवन ही में है, हृदय में ही है, उसकी पूर्ति के लिये हमें तीर्थाटन करने की आवश्यकता नहीं। वह बाहरी संसार में नहीं है। बाहर की माला का कोई महत्व नहीं। माला तो हमारी सांस की है जिसमें न काठ है और न गाँठ ही। वह स्वाभाविक क्रम से चलती है और हम उसी में ईश्वर का नाम पिरो सकते हैं। यही माला जीवन भर चलती है। कभी पुरानी भी नहीं होती, कभी टूटती भी नहीं, यदि टूटती है तो जीवन के साथ ही टूटती है। इस भांति कबीर ने जनता में जिस धर्म का प्रतिपादन किया, वह मानव जीवन का स्वाभाविक धर्म है, उसके लिये मन्त्र अभिचार की आवश्यकता नहीं, मूर्ति और तीर्थ की अनिवार्यता नहीं है। जीवन और धर्म एक है। उसमें शास्त्र के मध्यस्थता की भी आवश्यकता नहीं।

जिन पायन भुईं बहु फिरे, घूमे देश विदेश।
पिया मिलन जब होइया, आंगन भया विदेस॥

धर्म का प्रधान अंग विश्वास और भक्ति है। विश्वास का सम्बन्ध ईश्वर की सर्व व्यापकता और सर्व शक्तिमता में है। भक्ति का सम्बन्ध निश्छल प्रेरणा और प्रेमानुरक्ति में है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में जब सन्त कबीर का आविर्भाव हुआ था, उस समय काशी में रामानन्द का प्रभाव अत्यधिक था। यों तो श्री रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में होने के कारण रामानन्द श्री सम्प्रदाय के अन्तर्गत विशिष्टाद्वैत के समर्थक थे किन्तु स्वयं अपने सम्प्रदाय में मान्य अध्यात्म रामायण के दृष्टिकोण से वे अद्वैतवाद में भी आस्था रखते थे। इस प्रकार श्री रामानन्द जी से विशिष्टाद्वैत और अद्वैतवाद दोनों को ही बल मिल रहा था। पूर्व में गोरखनाथ का शैव सम्प्रदाय भी हठ योग की क्रियाओं में प्रतिफलित हो रहा था। झूंसी, मानिकपूर और जौनपूर में सूफ़ियों की प्रधान शाखाएँ सूफ़ीमत के क़ादिरी सम्प्रदाय का प्रचार कर रही थीं। समकालीन होने के कारण कबीर की विचार-धारा भी व्यक्त

और अव्यक्त रूप से इन सम्प्रदायों से प्रभावित हो रही थी। किन्तु इन प्रभावों के होते हुए भी कबीर की विचार-दृढ़ता और मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आ सकता था।

इसका कारण था कि कबीर शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव-ज्ञान को अधिक महत्व देते थे। उनका सन्तों के सत्संग में विश्वास था और वे सन्तों की अनुभव-गम्य विचार-धारा में अवगाहन करना अधिक उचित और विश्वसनीय समझते थे। जो भी कोई धर्म उनके समक्ष आता उसे वे अपने अनुभव और सत्य की तुला पर तोलते थे और उसके अनुभूत सत्य को ग्रहण कर के अपनी विचार-धारा के अनुसार उसका प्रतिपादन करते थे। उन्होंने अद्वैतवाद से यह तो ग्रहण किया है कि ब्रह्म एक है, द्वितीय नहीं और जो कुछ भी दृश्यमान है वह माया है, मिथ्या है। पर उन्होंने माया का मानवीकरण कर उसे कंचन और कामिनी का पर्याय माना और सूफीमत के शैतान की भांति पथ-भ्रष्ट करने वाली समझा। उनका एक ईश्वर निराकार है और निर्विकार है। वह अजन्मा है, अरूप है। उसे मूर्ति या अवतार में सीमित करना उसकी सर्व व्यापकता पर प्रश्न चिह्न लगाना है। किन्तु ऐसे ईश्वर की जो अरूप है, निर्गुण है, भक्ति कैसे हो सकती है? भक्ति तो व्यक्तित्व की अपेक्षा रखती है, वह साकार की भावना चाहती है, किन्तु कबीर का ब्रह्म तो निराकार है। अद्वैतवाद के निराकार ब्रह्म के प्रति भक्ति की संभावना कैसे हो सकती है? किन्तु कबीर को तो जनता में इस निराकार सर्वव्यापी अनन्त ब्रह्म का उपदेश करना है, लोगों के मन में उसके प्रति अनुरक्ति और भक्ति जाग्रत करनी है। इस कठिनाई को किस प्रकार हल किया जाय? कबीर ने इसके लिये प्रतीकों का आश्रय लिया। वे कर्मकांड में विश्वास तो करते नहीं थे अतः मूर्ति और अवतार के प्रति उनके हृदय में कोई आस्था नहीं थी। उन्होंने अपने ब्रह्म से मानसिक सम्बन्ध जोड़ा और ब्रह्म को अनेक प्रकार से अपने समीप लाने की विधि सोची। उन्होंने ब्रह्म को गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूप में मानने की शैली अपनाई।

ब्रह्म का गुरु रूप देखिये :—

गुरू गोविन्द तौ एक हैं, दूजा यहु आकार।
आपा मेटि जीवत मरै, तौ पावै करतार॥

ब्रह्म का राजा रूप देखिये :—

राजा राम कवन रंगै, जैसे परिमल पुहुप संगै।

अथवा

अब मैं पायो राजा राम सनेही।
जा बिन दुख पावै मेरी देही॥

ब्रह्म का पिता रूप भी देखिये :—

बाप राम सुनि बिनती मोरी।
तुम्ह सूँ प्रगट लोगनि सों चोरी॥

अब ब्रह्म का जननी रूप देखिये :—

हरि जननी मैं बालक तोरा।
काहे न औगुन बकसहु मोरा॥

ब्रह्म का स्वामी रूप भी प्रस्तुत है :—

कबीर प्रेम न चाखिया, चखि न लीया साव।
सूनें घर का पाहुणा, ज्यूँ आया त्यूँ जाव॥

ब्रह्म का मित्र रूप यह है :—

ऐसो कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख॥

ब्रह्म का पति रूप भी देखिये :—

हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रह न सकै मेरा जीव॥

इन प्रतीकों में पति या प्रिय राम का रूप प्रधान है। इसी प्रतीक में कवि के रहस्यवाद का रूप निखरा है। रहस्यवाद में साधक और साध्य में इस प्रकार की एकात्मता हो जाती है कि दोनों में किसी प्रकार का

अन्तर नहीं रह जाता। यह एकात्मता प्रेम पर ही आश्रित है। इसलिये कबीर ने अपने प्रतीकों की सार्थकता के लिये प्रेम को ही साधना का प्रमुख अंग माना है। यह प्रेम जहाँ एक ओर विशिष्टाद्वैत की भक्ति का प्राण है वहाँ दूसरी ओर सूफ़ीमत के इश्क का रूपान्तर मात्र है। इस प्रकार कबीर ने अपने प्रेम तत्व से वैष्णवी भक्ति और सूफ़ीमत दोनों का ही प्रतिनिधित्व किया है। इसलिये इस प्रेम को कभी कबीर ने भक्ति कहा है, और कभी इश्क या उसका प्रतीक मदिरा या मादकता उत्पन्न करने वाला पेय। इस प्रेममयी भक्ति का रूप देखिये :—

चरन कमल चित लाइये, राम नाम गुन गाई।
कहै कबीर संसा नहीं भगति मुकति गति पाई॥

मदिरा या रस का रूप देखिये :—

हरि रस पीया जाणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैंमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार॥

प्रेम में आडम्बर नहीं होता, अतः कबीर ने अपनी भक्ति को एकमात्र मानसिक रूप ही दिया है। उनकी भक्ति में कर्मकांड नहीं है, अतः वैष्णवों की नवधा भक्ति के पद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, और सख्य आदि भक्ति का रूप कबीर की भक्ति में नहीं है। कबीर की भक्ति में तो केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आत्मनिवेदन है जिनका सम्बन्ध एक मात्र मानसिक पक्ष से ही है। इस प्रकार कबीर की भक्ति के रूप ने पन्द्रहवीं शताब्दी के अव्यवस्थित साधना मार्ग को एक अत्यन्त व्यावहारिक पक्ष प्रदान किया। संक्षेप में उनकी भक्ति से कितनी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई उसका वर्णन निम्न प्रकार से है :—

१—ब्रह्म को रूप और गुण में सीमित न करते हुए उसे प्रतीकों द्वारा मानसिक धरातल पर लाने में सफलता।

२—अशिक्षित और अल्प शिक्षित जनता के हृदय में ब्रह्म की अनुभूति उत्पन्न कराने के लिये विविध सम्बन्धों की अवतारणा और राजा,

पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूपों से उससे निकटता स्थापित करना।

३—प्रेम के माध्यम से आडम्बर और कर्मकांड की आवश्यकता को दूर करना।

४—सूफ़ीमत के प्रेम तत्व और वैष्णव धर्म के भक्ति तत्व को मिला कर हिन्दू और मुसलमानों के बीच की साम्प्रदायिकता दूर करना।

५—विश्वव्यापी प्रेम से विश्वव्यापी धर्म की स्थापना करना जिसमें वर्ग-भेद और जाति-भेद के लिये कोई स्थान नहीं है।

६—इस प्रेम के माध्यम से हृदय की समस्त आत्म-समर्पण की भावनाओं को जाग्रत करना और पति-पत्नी के प्रेम की पूर्णता से रहस्यवाद की व्यावहारिक परम्परा का सूत्रपात करना।

इस प्रकार कबीर की इस मानसिक भक्ति में प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम इतना व्यापक है कि इसमें ब्रह्म अनेक नामों से सम्बोधित हुआ है। परम्परा से चली आने वाली भक्ति में ब्रह्म के जिन नामों का प्रयोग हुआ है, उन्हें कबीर ने निसंकोच स्वीकार किया है। ब्रह्म के तो अनेक नाम हैं। समस्त सृष्टि में ब्रह्म जल में नमक के समान व्याप्त है। सृष्टि में जितने नाम हैं, वे सभी ब्रह्म के नाम हैं। जनता की रुचि को आघात न लगे इसलिये निर्गुण ब्रह्म के लिये कबीर ने सगुण नामों का भी उपयोग किया है। ऐसे नामों में राम, हरि, केशव, मुरारी, कमलाकांत, माधव, श्रीरंग, गोकुल-नायक, करीम, अल्लाह आदि हैं।

कबीर की यह मानसिक भक्ति आनन्द और शान्ति से सम्पन्न अन्तः-करण की स्वाभाविक शक्ति है। अतः इसे 'सहज' का नाम भी दिया गया है। कबीर की इस 'सहज' भक्ति ने हमारे धार्मिक जीवन में एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया, इसमें कोई सन्देह नहीं।

●

प्रकरण ४

कबीर का दर्शन

भारतीय साहित्य के इतिहास में कबीर के दर्शन का युगान्तकारी महत्व है। उसने उत्तर भारत के बीच फैली हुई समाज और धर्म को घोर विषमता दूर करने में बड़ा काम किया। कबीर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विषभरी साम्प्रदायिकता को जड़ से उखाड़ने की कोशिश की और वे अपने इस प्रयत्न में बहुत कुछ सफल भी हुए। धर्म के ऊपरी ढोंग को जनता के सामने बड़ी निर्भीक वाणी में कहकर उसके अन्ध-विश्वासों को दूर करना महात्मा कबीर का ही काम था। उन्होंने सच्चे धर्म की व्यवस्था दी जिससे हिन्दू और मुसलमान —दोनों जातियों—ने उन्हें अपना नेता मानकर सारे भारतवर्ष में, मुख्यतः पंजाब, युक्तप्रांत, मध्यप्रांत, बिहार, उड़ीसा, बम्बई और गुजरात में कबीरपंथ के सिद्धान्तों का प्रचार किया।

कबीर साहब के समय के सम्बन्ध में मैंने इसलिए प्रकाश डाला है कि उससे उनकी समकालीन धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का परिचय मिल सके। चौदहवीं शताब्दी के अन्त में उत्तरी भारत के धार्मिक विचारों में घोर संघर्ष हो रहा था। फ़रीदुद्दीन अत्तार, अबू हामिद मुहम्मद बिन् अबू हक़ इब्राहीम (हिजरी ६२७; सन् १२२९) ने पंजाब में जिस सूफ़ीमत का प्रचार किया था वह पंजाब और मध्य देश में कवियों की रचनाओं में प्रकट हो रहा था। रामानन्द ने रामानुजाचार्य के विशिष्टा-द्वैत सिद्धान्त का—जाति-बन्धन शिथिल कर—जनता में प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था। सुदूर पूर्व में गोरखपंथियों ने हठयोग की जटिल विचार-धारा विधि-निषेध के तत्वों के साथ मिलाकर प्रवाहित कर दी थी। इन्हीं के सिद्धान्तों में बौद्ध मत के कुछ सिद्धान्त भी बिखरे हुए यत्र-तत्र मिल जाते थे। उदाहरणार्थ 'शून्यवाद' का सिद्धान्त विशेष रूप से गोरख-

पंथियों की विचार-धारा का अंग बन रहा था। शंकर का अद्वैतवाद भी रामानन्द के सिद्धान्तों में अपना प्रवेश पा गया था। इस प्रकार चौदहवीं शताब्दी के अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरी भारत के धार्मिक विचारों में एक क्रान्ति-सी हो रही थी। सूफ़ीमत, विशिष्टाद्वैत-वाद, अद्वैतवाद, गोरख-सिद्धान्त और बौद्ध मत की विविध सिद्धांत-शाखाएँ न्यूनाधिक मात्रा में पाई जाती थीं, और जब कबीर साहब ने अपने दर्शन की रूप-रेखा बनाई तो इन सिद्धान्तों का प्रभाव उन पर विशेष रूप से पड़ा। कबीर साहब ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार इन सभी सिद्धान्तों से उपयुक्त बातें नये ढंग से चुनकर अपने दर्शन में मौलिक रूप से सजाईं। उन्होंने अपने धर्म को जितना ही तर्क-सम्मत बनाया उतना ही समयोचित भी। गहरी से गहरी भावना को उन्होंने इतने सरल रूप में सजाया कि साधारण जनता भी असली तत्व के निकट पहुँच गई। उन्होंने जीवन के सरल से सरल चित्रों के उदाहरण से अपने अनुभव की सजीव और स्वाभाविक बातें कहीं। अपने धर्म को कर्मकांडों और अभिचारों से स्वतंत्र कर उन्होंने इतना सरल और विश्वासमय रूप दिया कि भक्त और साधक को बिना किसी प्रयास या बन्धन के ईश्वर की पहचान हो सके। वे अपने समय के जितने बड़े विचारक थे, उतने ही अधिक प्रचारक भी।

कबीर का दर्शन मुख्यतः चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग तो ईश्वर के सम्बन्ध में है, दूसरा जीवात्मा, तीसरा साधना और चौथा भाग उन्होंने ईश्वर की भावना में दो धर्मतत्वों को मिलाने में उपस्थित किया है। अद्वैतवाद और सूफ़ीमत में ईश्वर की जो भावना है वही उन्होंने अपने दर्शन में रक्खी है। उनका ईश्वर सर्वोपरि है, वह 'नासूत' होकर भी 'लाहूत' है—संसार के कण कण में वर्तमान होते हुए भी संसार से परे है। न वह हलका है, न वह भारी। न वह पास है, न दूर। न वह एक है, न दो। संसार की भाषा और भावना में कबीर का ईश्वर व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह जैसा है, वैसा है। कबीर कैसे कहें कि वह किसी विशेष प्रकार का है?

एक कहौं तो है नहीं, दोय कहौं तो गारि ।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर बिचारि ।।
भारी कहौं तो बहु डरूं, हलका कहूं तो झीठ ।
मैं का जानूं राम को नैना कभूं न दीठ ।।

इस तरह कबीर का ईश्वर किसी खास ढंग का नहीं कहा जा सकता, इसलिए ईश्वर में कोई भेद भी नहीं किया जा सकता । ईश्वर का रूप एक ही है । चाहे उसे राम कहा जाय या रहीम, चाहे उसे केशव कहें या करीम । इसी विचार से कबीर साहब हिन्दू धर्म और इस्लाम में कोई अन्तर नहीं मानते । वे कहते हैं :

हमारे राम रहीमा करीमा केसो, अलह राम सति सोई ।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई ।।
कहै कबीरा दास फकीरा अपनी राहि चलि भाई ।
हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई ।।

कबीर साहब ईश्वर की भावना अत्यन्त सूक्ष्म रूप में मानते हैं, उनका ईश्वर कण-कण में वर्तमान है । कबीर इसीलिए मूर्ति-पूजा के विरुद्ध हैं । जब ईश्वर सभी जगह है तब उसे एक ही मूर्ति में किस प्रकार सीमित कर सकते हैं ? न उसका मूल है न माया, न रूप है न कुरूप । कबीर बहुत से देवी-देवताओं के पूजने के पक्ष में भी नहीं हैं । जब कबीर का ईश्वर निर्विकार रूप से एक है, समष्टि को लेकर भी एक है, तब उसे भिन्न-भिन्न रूपों में बाँधने की आवश्यकता ही क्या है ?

ईश्वर की भावना के साथ-ही-साथ उन्होंने जीव की भावना भी बहुत स्पष्ट रूप में लिखी है । वे ईश्वर और जीव में भिन्नता तभी मानते हैं जब जीव माया में लिपटकर अपना वास्तविक रूप भूल जाता है । जब जीव माया से रहित हो जाता है तब उसमें और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाता । जब परमात्मा घट-घट में वर्तमान है तब वह जीव में भी वर्तमान है और इस प्रकार दोनों एक ही हैं । ईश्वर का जो रूप है वही जीव का भी है । इसीलिए कबीर साहब कहते हैं :

बहुरि हम काहे कूं आवहिंगे ।
बिछुरे पंच तत की रचना तब हम रामहिं पावहिंगे ।
जैसे जलहि तरंग तरंगनी ऐसे हम बिखलावहिंगे ।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलावहिंगे ।

यानी जिस तरह लहर नदी का भाग होकर उसी में मिल जाती है, उसी प्रकार कबीर साहब कहते हैं कि हम भी अपनी आत्मा को परमात्मा में मिला देंगे। इसी भावना में उनका रहस्यवाद मिलता है। वे प्रेम के आधार पर अपनी आत्मा को परमात्मा के समीप तक ले जाते हैं और उससे मिलकर एकता का अनुभव करते हैं। जलालुद्दीन रूमी और शम्स तबरीज़ के बहुत-से विचार कबीर साहब की कविता में आप-से-आप प्रवेश पा गये हैं, क्योंकि कबीर साहब के बहुत-से विचार सूफ़ीमत से साम्य रखते हैं :

हम रफ़त रहबर शुमा मैं खुर्दा शुमा बिसियार,
हम जिमीं आसमान खालिक गुंद मुसकिल कार
हम चु बूदनि बूद खालिक गरक हम तुम पेस,
कबीर पनह खुदाइ की रह दिगर दावानेस ।

कबीर साहब का विचार है कि मैं पथिक हूँ, तू पथ-प्रदर्शक है। मैं खुर्दा—छोटा हूँ, तू बिसियार यानी बहुत है। तू सृष्टिकर्ता होकर पहले से ही (बूद) था, मैं तेरे समक्ष या तुझमें ग़र्क यानी लीन हो गया। कबीर इस प्रकार खुदा की पनाह में हैं।

कबीर ने साधना का पथ बहुत विस्तार से लिखा है। वे रामानन्द के प्रभाव से भक्ति, सूफ़ीमत के प्रभाव से प्रेम और गोरखपंथियों के प्रभाव से योग साधने के पक्ष में हैं, अर्थात् उनका ईश्वर भक्ति, प्रेम और योग के मार्ग पर चलने से पाया जा सकता है। भक्ति के अंग में उन्होंने निश्छल और निष्काम सेवा ही मुख्य मानी है, वे परम्परागत नवधा भक्ति के विस्तार में नहीं पड़े। वे तो कहते हैं :

भक्ति नसेनी मुक्ति की संत चढ़े सब आइ।
जिन-जिन मन आलस किया जनम-जनम पछिताइ॥

प्रेम की भावना अधिकतर उनके सामने सूफ़ीमत का विचार लेकर है जिसमें इश्क़ के विचार का प्राधान्य है और जिसमें शराब की सी मादकता है :

हरि रस पीया जानिए जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहै नाहीं तन की सार॥

साधना-पथ में उन्होंने 'शरियत' और 'मारिफ़त' पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने अपनी कविता का विशेष भाग इन्हीं साधनाओं को स्पष्ट करने में लगाया है। वे सबसे पहले मनुष्य में सद्‌गुणों की स्थापना और दुर्गुणों के विनाश पर जोर देते हैं। वे साँच, सहज, साध, सारग्राही, विचार, बेसास, सबद, पारिष, बेली आदि के अंग लिखते हैं और जीवन के पवित्र आदर्श की ओर संकेत करते हैं, एवं भेष, कुसंगति, भ्रम, काल, निन्दा आदि के अंग लिखकर दुर्गुणों के विनाश की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। इस प्रकार सब तरह से पवित्र हो जाने पर ब्रह्म आप-से-आप अपने हृदय में दीख पड़ता है। उसे खोजने के लिए काशी या काबा जाने की आवश्यकता नहीं है :

पूरब दिसा हरी का बासा पछिम अलह मुकामा।
दिल ही खोजि दिलै दिल भीतरि इहां राम रहमाना॥

और इस खोजने में प्रेम की प्रधानता है :

नैनां अंतरि आवकं निस दिन निरखौं तोहि।
कब हरि दरसन देहुगे सो दिन आवै मोहि॥

अपनी समकालीन परिस्थितियों के कारण कबीर साहब ने गोरख-पंथियों के साधना-पथ पर भी जोर दिया है, वह है योग। हठयोग की क्रियाओं के द्वारा आसन-प्राणायाम से शरीर की नाड़ियों और चक्रों को साधकर आत्म-विस्मृत हो समाधि प्राप्त करना और ब्रह्मानुभूति में लीन होना कबीर को प्रिय है :—

हिंडोलना तहाँ झूलैं आतम राम।
प्रेम भगति हिंडोलना सब संतनि कौ विश्राम॥
चंद सूर दोइ खंभवा बंक नालि की डोरि।
झूलै पंच पियारियाँ तहाँ झूलै जिय मोरि॥

आदि बहुत सी बातें उन्होंने इडा, पिंगला, सुषुम्णा नाड़ियों और मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र पर लिखी हैं। अन्त में उन्होंने सहस्रदल कमल में चन्द्र और अमृत का निर्देश करते हुए 'आकाश' और 'भँवर गुफा' का संकेत किया है। मूलाधार में स्थित कुंडलिनी के जागरण और षट्चक्रों को पार करते हुए सहस्रदल कमल के स्पर्श पर भी बहुत सी बातें कही गई हैं जो गोरखनाथ के 'गोरखबोध' नामक ग्रन्थ से ली गई ज्ञात होती हैं। इन बातों के चित्रण करने में बहुत से रूपकों की भी आवश्यकता पड़ी और इन रूपकों के विचित्र बन्धान ने बहुत सी उलटबाँसियों की रूपरेखा खींच दी है। उलटबाँसियाँ बड़ी विचित्र हैं, देखने में बिलकुल असंभव मालूम पड़ती हैं, लेकिन हठयोग की क्रियाओं को ध्यान में रखने से वे स्पष्ट हो जाती हैं :

तरुवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा बिन फूलां फल लागा।

यहाँ तरुवर मनुष्य का शरीर है और इसमें बिना फूल के जो फल हैं वही षट्चक्र हैं। इसी प्रकार बहुत से रूपक कबीर साहब ने लिखे हैं जो कभी चरखे से, कभी करघे से, कभी जंगली जानवरों से, कभी बनजारे के व्यापार से और कभी जल या आकाश के प्राणियों से सम्बन्ध रखते हैं। ये सब बातें जीवन के स्वाभाविक अनुभवों से सम्बन्ध रखती हैं और इस प्रकार जनता की समझ में आसानी से आ जाती हैं। कबीर साहब के ये रूपक जहाँ गोरखपंथियों के प्रभाव की ओर संकेत करते हैं वहाँ वे जनता के हृदय में धर्म के प्रति कौतूहलपूर्ण भावना जगा कर पवित्र विचारों की सृष्टि भी करते हैं।

कबीर साहब ने माया को बहुत गालियाँ दी हैं। अद्वैतवाद की माया तो केवल भ्रम उत्पन्न करने वाली है। कबीर साहब इस भ्रम की कल्पना

के साथ ही माया को छल करनेवाली और पाप-मार्ग की ओर प्रेरित करनेवाली एक स्त्री के रूप में भी देखा है। 'कनक और कामिनी' में कबीर ने माया का चित्र खूब ही खींचा है, क्योंकि अधिकतर ये दोनों ही भक्तों को ईश्वरीय मार्ग से दूर ले जाती हैं। सूफ़ीमत में धर्म-भ्रष्ट करनेवाला शैतान है जो सीधे-सादे साधकों को साधना-पथ से दूर ले जाता है। ऐसी ही कुछ भावना कबीर की माया में भी है। उन्होंने उसे डाइन कहा है :

इक डाइन मेरे मन में बसे रे, नित उठि मेरे जीव को डसै रे।

वे कहते हैं—

एक कनक अरु कामिनी जग में दोई फंदा।
इन पै जौन बधावई ताका मैं बंदा॥

वे माया की भर्त्सना करते हुए कहते हैं :

भूलै भरमि कहा तुम राते क्या मदमाते माया।
राम रंगि सदा मतवाले काया होई निकाया॥
कहत कबीर सुहाग सुन्दरी हरि भज ह्वै निस्तारा।
सारा खलक खराब किया है मानस कहा बिचारा॥

इस तरह कबीर साहब ने ईश्वर, जीव, साधना और माया इन चार अंगों पर बड़े तर्कपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला है। यह तर्क इतना सरल है कि जनता के हृदय पर अपनी छाप छोड़ जाता है।

चौदहवीं शताब्दी के अन्त और पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में कबीर साहब ने अपने सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्य जाति को एकता के सूत्र में बाँधने का बड़ा शक्तिशाली प्रयत्न किया। आज भी बहुत से हिन्दू और मुसलमान इस समान धर्म के ईश्वर के अनुयायी हैं। संसार के हिन्दू और मुसलमानों को चाहिए कि वे कबीर साहब की कविता पढ़कर अपने आपस के सारे भेद-भावों को भूल जावें और सारी दुनिया में एक ईश्वर को मानते हुए देश और समाज को सुधार के इतिहास में अमर बना दें।

●

प्रकरण ५

भक्ति योग

विश्व-साहित्य में संत कबीर की रचनाओं ने जीवन की लौकिक और अलौकिक भाव-भूमि में नई चेतना का प्रादुर्भाव किया है। धर्म की स्वस्थ परम्पराओं के साथ उन्होंने युगीन परिस्थितियों का जैसा समन्वय किया है, वह युगान्तरकारी महत्त्व रखता है। चिन्तन के स्तर पर उनका दृष्टिकोण जितना मौलिक है, अनुभूति के स्तर पर वह उतना ही नवीन है। धर्म के क्षेत्र में उनका प्रयोग जितना सत्य सम्मत है, जीवन के क्षेत्र में उतना ही व्यावहारिक। उन्होंने धर्म की प्रचलित रूढ़ियों को जितना ध्वस्त किया है, दर्शन के सत्य को उतना ही संयोजित किया है। इस भाँति उन्होंने जाति और सम्प्रदाय के परे एक ऐसे विश्व-धर्म की रूप-रेखा निर्धारित की है जो मानव-मात्र के लिए ग्राह्य है। उससे जीवन में जितनी ज्योति उभरती है समाज की व्यवस्था के लिए उतनी ही प्रेरणा प्राप्त होती है। समाज के क्षेत्र में जहाँ एक ओर समरसता आती है, अध्यात्म के क्षेत्र में उतनी ही रहस्योन्मुखता प्राप्त होती है। इस भाँति कबीर की विचार-धारा क्रान्तिकारिणी ही नहीं है, जीवन की सूत्र-धारिणी भी है।

कबीर ने जिन स्वस्थ परम्पराओं को आगे बढ़ाया उनमें भक्ति और योग का एक विचित्र समन्वय है। यदि योग की विशिष्ट शब्दावली के रूढ़िगत अर्थ को न लिया जाय तो कबीर की साधना को भक्ति-योग की संज्ञा दी जा सकती है। उसी भक्ति-योग से उनको 'सहज समाधि' या 'सहज साधना' का रूप स्पष्ट हो जाता है।

भक्ति-आन्दोलन का इतिहास तो ईसा के पूर्व १५०० वर्षों से माना जाता है जब वेदों ने प्रकृति के प्रतीक देवताओं के प्रति ऋचाओं में उनकी विभूति के प्रति अनुरक्ति का भाव जागृत किया था, ब्राह्मण ग्रन्थों में

यह अनुरक्ति कर्म काण्ड के अनुष्ठानों में गौण अवश्य हो गई किन्तु आरण्यकों द्वारा फिर चिन्तन की गहरी अनुभूतियों में इसका उदय हुआ जिसका विशेष प्रभाव रामायण और महाभारत की कथाओं में मुखरित हुआ। दर्शन के क्षेत्र में जब प्रतीकों का आविर्भाव ही सत्य-दर्शन का आधार बना तो भक्ति के विकसित होने का मार्ग अधिक प्रशस्त हो गया। सम्प्रदायों में सात्वत या पंचरात्र में भक्ति को विकास का व्यापक क्षेत्र मिला। आगे चल कर भागवत धर्म ने विष्णु या नारायण के प्रति अपनी अविचल आस्था प्रदर्शित की। इसके विकास को चौथी शताब्दी में दक्षिण के आलवर गायकों ने हृदय का रागात्मक तत्व प्रदान किया। उन्होंने कीर्तन के स्वरों में इसकी प्रतिष्ठा जन-जन के मानस में की। ग्यारहवीं शताब्दी में श्री रामानुजाचार्य ने इसे विशिष्टा-द्वैत के रूप में 'श्री सम्प्रदाय' में प्रतिष्ठित किया। चौदहवीं शताब्दी में रामानन्द ने इसे उत्तर भारत में भागीरथी की भाँति प्रवाहित किया और भक्ति की इसी स्वस्थ परम्परा को लेकर कबीर ने भक्ति का मानसिक रूप जनता के समक्ष उपस्थित किया। साधना के जिस अर्थ में 'योग' ग्रहण किया जाता है उसका आरंभ ईसा की दूसरी शताब्दी पूर्व पतंजलि द्वारा हुआ जिसमें उन्होंने योग को चित्त-वृत्ति के निरोध का साधन माना है। इस योग का विकास हठयोग के रूप में तंत्र ग्रंथों में विशेष रूप से हुआ। साधना के लिए शरीर को उपयुक्त क्षेत्र बनाने का दृष्टिकोण ही हठयोग में है। ६ वीं से १२ वीं शताब्दी तक नाथ संप्रदाय ने इस हठयोग का महत्व बड़े तीव्र स्वर में घोषित किया। गोरखनाथ ने तो शरीर के अंतर्गत चक्रों और नाड़ियों के साधन से ही सहस्र दल कमल में अनाहत ब्रह्मनाद उत्पन्न करने की युक्ति बतलाई जो संसार के समस्त बंधनों से मुक्ति प्रदान करती है। कबीर ने नाथ संप्रदाय की परम्परा को वहीं तक मान्यता दी जहाँ तक कि राम के नाम का रूपान्तरण अनहद नाद में हो जाय और भक्ति से ही इस योग की पुष्टि हो। इस भाँति उन्हें हम प्रथम सन्त मानते हैं जिन्होंने भक्ति-योग को सहज साध्य बतलाया।

सूफ़ीमत के प्रेम की मादकता यदि इस भक्ति योग को मिल जाय तो इस घट में ही प्रभु का निवास दृष्टिगत होने लगता है और साधक रहस्यवाद की सीमा तक पहुँच जाता है। इस प्रकार कबीर ने स्वानुभूति के आधार पर ऐसा साधन मार्ग प्रतिष्ठित किया जो किसी धर्म के विपरीत न जाकर सत्य-दर्शन में सहज और व्यवहारिक बन जाय। इसी में उनका रहस्यवाद पोषित हुआ है।

●

प्रकरण ६

सोऽहम् की अनुभूति

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति सम्बन्धी रचनाओं का विशेष महत्व है। यह महत्व इसलिए है कि इन रचनाओं से जहाँ एक ओर साहित्य श्री-सम्पन्न हुआ है, वहाँ दूसरी ओर उनसे हमारा मानसिक पक्ष भी परिष्कृत हुआ है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ क्षण-क्षण परिवर्तित होती थीं, राज्यों की सीमाएँ वर्षाकालीन मेघ-मालाओं की भाँति घटती-बढ़ती थीं और जनता का भाग्य स्वप्न की भाँति अस्पष्ट था। ऐसी स्थिति में राजनीति से संत्रस्त होते हुए भी जनता राजनीति से अलग हट गयी थी—उदासीन थी। उसकी सारी शक्ति जीवन के वास्तविक मूल्यों के पुनर्निर्धारण में लग रही थी। जीवन का लौकिक महत्व नगण्य हो रहा था, इसलिये उसके अलौकिक महत्व की ओर जनता अग्रसर हो रही थी। जन-मन के अधिनायक कवियों ने इस जन-वाणी को मुखरित किया और राजनीतिक विप्लवों के बीच आध्यात्मिक जीवन की शान्ति और भक्ति की स्वर-सरिता प्रवाहित की।

भक्ति काल की रचनाओं ने दो दिशाएँ ग्रहण कीं। एक निर्गुण और निराकारवादी और दूसरी सगुण और साकारवादी। कालक्रमानुसार निर्गुण प्रथम है। यह काल ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी का था जिसमें संत कबीर ने प्राचीन परम्पराओं का संशोधन करते हुए संत सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। लगभग एक शताब्दी बाद सूर, तुलसी और मीराँ ने वैष्णव भक्ति के आदर्शों को ग्रहण करते हुए सगुण सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसमें राम और कृष्ण की भक्ति शतमुखी होकर जन-जीवन में मन्दाकिनी की भाँति प्रवाहित हुई। यहाँ एक बात अवश्य विचारणीय है कि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही मैथिल-कोकिल विद्यापति ने कृष्ण की साकारोपासना में 'पदावली' की रचना की थी, किन्तु उनकी

'पदावली' लौकिक शृंगार से ओत-प्रोत होने के कारण भक्ति-पक्ष का पूर्ण समर्थन नहीं कर सकी। इसलिये वह मनोरंजन और विलासमयी चेष्टाओं की रंगस्थली ही बनकर रह गयी। मिथिला से बाहर मध्यदेश में वह भक्ति का मेरुदण्ड नहीं बन सकी, रसवाहिनी शिराओं की भाँति ही कान्त कमनीय बनी रही।

निर्गुण सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि में नाथ सम्प्रदाय है और समानान्तर दिशाओं में वैष्णव भक्ति का अलंकार धारण किये हुए रामानन्द द्वारा प्रचारित शंकर का अद्वैतवाद तथा अनेक सूफ़ी सन्तों द्वारा प्रचारित सूफ़ी-मत है। संत कबीर पर रामानन्द की अद्वैतवादी विचारधारा का प्रभाव सबसे अधिक है। कबीर ने साधना के क्षेत्र में योग और प्रेम को जो महत्व दिया है, वह क्रमशः नाथ सम्प्रदाय और सूफ़ीमत का प्रभाव ही माना जा सकता है, यद्यपि प्रेम का महत्व वैष्णव भक्ति से भी समर्थित होता है। किन्तु प्रेम की मादकता जो अनेक प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत की गयी है, वह निश्चय ही सूफ़ीमत से प्राप्त की हुई ज्ञात होती है।

अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है। अविद्या अथवा अज्ञान के कारण ही यह दृश्यमान् जगत सत्य भासित होता है जिसमें जीवन और मरण के सुख और दुःख घटित होते रहते हैं। इस अज्ञान का नाम माया है। इसे नष्ट करने के लिये साधक को ज्ञान की आवश्यकता है क्योंकि ब्रह्म और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। जो अन्तर दृष्टिगत होता है, वह मायामय है। इस अन्तर को नष्ट करना ही निज रूप में स्थित होना है और तभी 'सोऽहम्' की स्थिति प्राप्त होती है। कबीर ने इस सोऽहम् पर विशेष बल दिया है। इस पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है। संत कबीर ने सोऽहम् की स्थिति योग और रहस्यवाद द्वारा संभव बतलाई है। रागु भैरव में उन्होंने एक पद लिखा है :

> अरध उरध मुखि लागो कासु।
> सुंन मण्डल महि करि परगासु॥

ऊहाँ सूरज नाहीं चन्द ।
आदि निरंजनु करै अनन्द ।।
सो ब्रह्मंडि पिंडि सो जानु ।
मानसरोवर करि इसनानु ।।
सोहं सो जा कउ है जाप ।
जाकहु लिपत न होइ पुंन अरु पाप ।।
अबरन बरन घाम नहीं छाम ।
अवर न पाइऐ गुर की साम ।।
टारी न टरै आवै न जाइ ।
सुंन सहज महि रहिओ समाइ ।।
मन मधे जानै जे कोइ ।
जो बोले सो आपै होइ ।।
जोति मन्त्र मनि असथिरु करै ।
कहि कबीर सो प्रानी तरै ।।

इसका सामान्य अर्थ इस प्रकार है :

जिस शून्य मण्डल के नीचे और ऊपर के मुख से आकाश लगा हुआ है, उसी में वह (ब्रह्म) प्रकाश कर रहा है। वहाँ न सूर्य है, न चन्द्रमा किन्तु (अपने ही प्रकाश में) वह आदि निरंजन वहाँ आनन्द (की सृष्टि) कर रहा है। उसी शून्य मण्डल को ब्रह्मांड और उसी को पिंड समझो। तुम उसी मानसरोवर में स्नान करो और सोऽहं का जाप करो। जिस सोऽहं के जाप में पाप और पुण्य लिप्त नहीं है। (अर्थात् सोऽहं जाप पाप और पुण्य से परे है) उस शून्य मंडल में न वर्ण (रंग) है और न अ-वर्ण (अ-रंग), न वहाँ धूप है न छाया। वह गुरु के स्नेह के अतिरिक्त और किसी भाँति भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। फिर (मन की सहज शक्ति) न टालने से टल सकती है और न किसी अन्य वस्तु में आ-जा सकती है। वह केवल शून्य में लीन होकर रहती है। जो कोई इस शून्य को अपने मन के भीतर जानता है, वह जो कुछ भी उच्चारण करता है,

वह आप ही (सच्चे अन्तःकरण) का रूप हो जाता है। इस ज्योति रहस्य में जो व्यक्ति अपना मन स्थिर करता है, कबीर कहते हैं कि वह प्राणी इस संसार से तर जाता है।

इस पद में कबीर ने विस्तार से सोऽहं की स्थिति का वर्णन किया है। जब 'मैं' मेंवह (ब्रह्म) जैसी सोऽहं की अनुभूति होती है तो ब्रह्म और जीव की सत्ता एक ही हो जाती है। कबीर ने भी सोऽहं कह कर ब्रह्म और जीव की सत्ता एक ही मानी है किन्तु उन्होंने इस स्थिति में कुछ संशोधन किया है। कबीर ने दर्शन के प्रत्येक तत्व को संशोधन के साथ ग्रहण किया है जिससे वह सामान्य जन के लिए भी व्यावहारिक बन जाय। ब्रह्म और जीव का एक्य उन्होंने अद्वैतवाद की अपेक्षा रहस्यवाद से ग्रहण किया है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में स्पष्ट है कि वह आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति है। उसमें विश्वात्मा का मौन आस्वादन है। प्रेम के आधार पर वह आत्मा और विश्वात्मा में ऐक्य स्थापित करता है। यह ऐक्य ही है, एकी-करण नहीं। एकीकरण की भावना अद्वैतवाद में है, ऐक्य की भावना रहस्यवाद में। अद्वैतवाद में और रहस्यवाद में कुछ भिन्नता है। अद्वैतवाद में मिलाप की भावना का ज्ञान भी नहीं रहता, रहस्यवाद में यह मिलाप एक उल्लास की तरंग बन कर आत्मा में जागृत है। जब एक जल-बिन्दु अनन्त जल-राशि में मिलकर अपना व्यक्तित्व खो देता है तब उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं रहता। यह भावना अद्वैतवाद ही की है लेकिन रहस्यवाद में अस्तित्व का पूर्ण विनाश नहीं होने पाता। मिलाप की स्थिति में भी यह भावना वर्तमान रहती है कि मैं मिल रहा हूँ। आत्मा विश्वात्मा से मिलकर भी यह कह सकती है कि मैं अपने लाल की लाली जहाँ देखती हूँ, वहीं पाती हूँ। जब मैं उस लाली को निकट से देखने जाती हूँ तो मैं भी लाल हो जाती हूँ। यहाँ 'मैं' और 'लाल' में एकता होते हुए भी दोनों का अस्तित्व-ज्ञान अलग-अलग है। व्यक्तित्व का अभिज्ञान रहते हुए इस मिलाप की आनन्दानुभूति रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। यदि आत्मा और परमात्मा की स्थिति एक

हो जाय तो मिलने की आनन्दानुभूति का केन्द्र किस जगह स्थित होगा ? आनन्द का अनुभव करने के लिये आत्मा के व्यक्तित्व को ब्रह्म से मिलते हुए भी अलग मानना होगा । रहस्यवाद की यही विशेषता है । इस रहस्यवाद में सोऽहम् की अनुभूति प्राप्त करने पर भी आत्मा आनन्दानुभूति से वंचित नहीं होती ।

रहस्यवाद प्रेम की चरम परिणति में ही सम्भव है । यह प्रेम निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्ति में प्रतिष्ठित हो सकता है । इस प्रेम की सहजानुभूति के लिये 'व्यक्तित्व' का होना परम आवश्यक है । सगुणोपासना में तो 'व्यक्तित्व' सहज ही प्राप्त हो सकता है । राम और कृष्ण का रूप और लीला-गान किसी भी भक्त को रहस्यवाद के आनन्द-द्वार तक पहुँचा सकता है । संत तुलसीदास का यह कथन कि....

प्रभु गुन सुनि मन हरषि है, नीर नयननि ढरिहै ।
तुलसिदास भयो राम को, विश्वास प्रेम लखि आनन्द उमँगि उर
भरि है ॥

अथवा मीरां बाई का यह पद :

जिनके पिया परदेस बसत हैं, लिखि लिखि भेजें पाती ।
मेरे पिया मो माँहि बसत हैं, गूंज करूँ दिन राती ॥

रहस्यवाद के आनन्द की सृष्टि करते हैं किन्तु निर्गुण सम्प्रदाय में जहाँ ब्रह्म निराकार है और उसका व्यक्तित्व या लीला-गान संभव नहीं है, वहाँ प्रेम का आश्रय क्या होगा ? शून्य से तो प्रेम नहीं किया जा सकता । निर्गुण भावना में प्रेम की साधना प्रतिफलित करने के लिये संत कबीर ने अपने ब्रह्म के लिये प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया है जिस पर पहले विचार किया जा चुका है ।

●

प्रकरण ७

रहस्यवाद

अब हमें कबीर के रहस्यवाद पर विचार करना है। कबीर की 'बानी' को आद्योपान्त पढ़ जाने पर ज्ञात हो जाता है कि वे सच्चे रहस्य-वादी थे। यद्यपि कबीर निरक्षर थे तथापि वे ज्ञान-शून्य नहीं थे। उनके सत्संग, पर्यटन और अनुभव आदि ने उन्हें बहुत ऊपर उठा दिया था। वे एक साधारण व्यक्ति की श्रेणी से परे थे। रामानन्द का शिष्यत्व उनके हिन्दू धार्मिक सिद्धान्तों का कारण था और जुलाहे के घर पालित होना तथा शेख़ तकी आदि सूफ़ियों का सत्संग होना उनके मुसलमानी विचारों से परिचित होने का कारण था।

इस व्यवहार-ज्ञान से ओत-प्रोत होकर उन्होंने अपने धार्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन बड़ी कुशलता के साथ किया और वह कुशलता भी ऐसी जिसमें कबीर के व्यक्तित्व की छाप लगी हुई है। इसके पहले कि हम कबीर के रहस्यवाद की विवेचना करें, रहस्यवाद के सभी अंगों पर पूरा प्रकाश डालना उचित है।

रहस्यवाद की विवेचना अत्यंत मनोरंजक होने पर भी दुःसाध्य है। वह हमारे सामने एक गहन वन-प्रान्त की भाँति फैली हुई है। उसमें जटिल विचारों की कितनी काली गुफाएँ हैं, कितनी शिलाएँ हैं! उसकी दुर्गमता देख कर हमारे हृदय का निर्बल व्यक्ति थक कर बैठ जाता है। सागर के समान इस विषय का विस्तार विश्व-साहित्य भर में फैला हुआ है। न जाने कितने कवियों के हृदय से रहस्यवाद की भावना निर्झर की भाँति प्रवाहित हुई। उन्होंने उसके अलौकिक आनन्द का अनुभव कर मौन धारण कर लिया है। न जाने कितने योगियों ने इस दैवी अनुभूति के प्रवाह में अपने को बहा दिया है। इसी रहस्यवाद को हम परिभाषा

का रूप देना चाहते हैं, एक अमृत-कुण्ड को मिट्टी के घड़े में भरना चाहते हैं।

परिभाषा

रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल संबंध जोड़ना चाहती है, यह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं रह जाता। जीवात्मा की शक्तियाँ इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती हैं। जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का अनन्त तेज अन्तर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल-सा जाती है। एक भावना, एक वासना हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और वह भावना सदैव जीवन के अंग-प्रत्यंगों में प्रकाशित होती है। यही दिव्य संयोग है। आत्मा उस दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन। कबीर की उलटबासियाँ प्रायः इसी भावना पर चलती हैं।

> संतो, जागत नींद न कीजै।
>
> काल नहिं खाई कल्प नहीं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै।।
>
> उलटि गंगा समुद्रहि सोखै, शशि और सूर गरासै।
>
> नव ग्रह मारि रोगिया बैठे, जल में बिंब प्रकासै।।
>
> बिनु चरणन के दुहु दिस धावै, बिनु लोचन जग सूझै।
>
> ससा उलटि सिंह को ग्रासै, अचरज कोऊ बूझै।।

इस संयोग में एक प्रकार का उन्माद होता है, नशा रहता है। उस एकांत सत्य से, उस दिव्य-शक्ति से जीव का ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह अपनी सत्ता परमात्मा की सत्ता में अन्तर्हित कर देता है। उस प्रेम में चंचलता नहीं रहती, अस्थिरता नहीं रहती। वह प्रेम अमर होता है।

ऐसे प्रेम में जीव की सारी इंद्रियों का एकीकरण हो जाता है। सारी इंद्रियों से एक स्वर निकलता है और उनमें अपने प्रेम की वस्तु के

पाने की लालसा समान रूप से होने लगती है। इन्द्रियाँ अपने आराध्य के प्रेम को पाने के लिए उत्सुक हो जाती हैं और उनकी उत्सुकता इतनी बढ़ जाती है कि वे उसके विविध गुणों का ग्रहण समान रूप से करती हैं। अंत में वह सीमा इस स्थिति को पहुँचती है कि भावोन्माद में वस्तुओं के विविध गुण एक ही इंद्रिय पाने की क्षमता प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी दशा में शायद इंद्रियाँ भी अपना कार्य बदल देती हैं। एक बार प्रोफ़ेसर जेम्स ने यही समस्या आदर्शवादियों के सामने सुलझाने के लिए रक्खी थी कि यदि इंद्रियाँ अपनी-अपनी कार्य शक्ति एक दूसरे से बदल लें तो संसार में क्या परिवर्तन हो जायेंगे ? उदाहरणार्थ, यदि हम रंगों को सुनने लगें और ध्वनियों को देखने लगें तो हमारे जीवन में क्या अन्तर आ जायगा! इसी विचार के सहारे हम सेंट मार्टिन की रहस्यवाद से संबंध रखने वाली परिस्थिति समझ सकते हैं जब उन्होंने कहा था :

मैंने उन फूलों को सुना जो शब्द करते थे और उन ध्वनियों को देखा जो जाज्वल्यमान थीं।[1]

अन्य रहस्यवादियों का भी कथन है कि उस दिव्य अनुभूति में इंद्रियाँ अपना काम करना भूल जाती हैं। वे निस्तब्ध-सी होकर अपने कार्य-व्यापार ही नहीं समझ सकतीं। ऐसी स्थिति में आश्चर्य ही क्या कि इंद्रियाँ अपना कार्य अव्यवस्थित रूप से करने लगें। इसी बात से हम उस दिव्य अनुभूति के आनन्द का परिचय पा सकते हैं जिसमें हमारी सारी इंद्रियाँ मिल कर एक हो जाती हैं, अपना कार्य व्यापार भूल जाती हैं। जब हम उस अनुभूति का विश्लेषण करने बैठते हैं तो उसमें हमें न जाने कितने गूढ़ रहस्यों और आश्चर्यमय व्यापारों का पता लगता है।

---

१. I heard Flowers that sounded and saw notes that shone.

अंडरहिल रचित मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ८

फ़ारसी में शमसी तबरीज़ की कविता में उक्त विचारों का स्पष्टी-करण इस प्रकार है :—

[1]उसके सम्मिलन की स्मृति में,
उसके सौन्दर्य की आकांक्षा में
वे उस मदिरा को—जिसे तू जानता है—
पीकर बेसुध पड़े हैं।
कैसा अच्छा हो कि उसकी गली के द्वार पर
उसका मुख देखने के लिए
वह रात को दिन तक पहुँचा दे।
तू अपने
शरीर की इंद्रियों को
आत्मा की ज्योति से जगमगा दे।

रहस्यवाद के उन्माद में जीव इंद्रिय-जगत से बहुत ऊपर उठ कर विचार-शक्ति और भावनाओं का एकीकरण कर अनंत प्रेम में मिल जाना चाहता है। यही उनकी साधना है, यही उसका उद्देश्य है। उसमें जीव अपनी सत्ता आराध्य से मिला देता है। मैं, मेरा, और मुझे का ऐक्य रहस्यवाद का एक आवश्यक अंग है। एक अपरि-मित शक्ति की गोद ही में 'मैं' और 'मेरा' सदैव के लिए जुड़ जाता है। वहाँ जीव अपना आधिपत्य नहीं रख सकता। एक लेखक की

---

१. ब-यादे बज़्मे विसालश् बर आरज़ू-ए जमालश्
फ़ुतादां बे ख़बरा मं'द ज़े आं शराब कि दानी
चे ख़ुश बूवद कि बकूयश बर आस्तान-ए कूयश
बराए दीदने रूयश शबे बरोज़ रसानी
हवासे जुस्म ए ख़ुद रा बनूरे जाने तो बर अफ़रोज़

....

दीवाने शमसी तबरीज़, पृष्ठ १७६

भाँति अपने को स्वामी के चरणों में भुला देना चाहता है। संसार के इन बाह्य बन्धनों का विनाश कर आत्मा ऊपर उठती है, हृदय की भावना साकार बन कर प्रभु की ओर जाती है केवल इसलिए कि वह अपनी सत्ता एक असीम शक्ति के आगे डाल दे। हृदय की इस गति में कोई स्वार्थ नहीं, संसार की कोई वासना नहीं, कोई सिद्धि नहीं, किसी ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं, केवल हृदय के प्रेम की पूर्ति है। और ऐसा हृदय वह बिन्दु है जिसमें केवल भावनाओं का केन्द्र ही नहीं वरन् जीवन की वह अंतरंग अभिव्यक्ति है जिसके सहारे संसार के बाह्य पदार्थों में उसकी सत्ता निर्धारित होती है। अनन्त सत्ता के सामने जीव अपने को इतने समीप ला देता है कि उसको सामान्य भावना में ही अनंत शक्ति की अनुभूति होने लगती है। अंग्रेजी के एक कवि कौलरिज ने इसी भावना को इस प्रकार प्रकट किया है :—

[१]"हम अनुभव करते हैं कि हम कुछ नहीं हैं,
क्योंकि तू सब कुछ है और सब कुछ तुझ में है।
हम अनुभव करते हैं कि हम कुछ हैं,
वह भी तुझसे प्राप्त हुआ है।
हम जानते हैं कि हम कुछ भी नहीं हैं,
परन्तु तू हमें अस्तित्व प्राप्त करने में सहायक होगा।
तेरे पवित्र नाम की जय हो!"

---

१. We feel we are nothing for all is
Thou and in Thee.
We feel we are something, that also
has come from Thee.
We know we are nothing, but Thou
wilt help us to be.
Hallowed be Thy name, halleluiah.

कबीर की निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियाँ इस विचार को कितने सरल और स्पष्ट रूप से सामने रखती हैं :—

लोका जानि न भूलो भाई,
खालिक खलक, खलक में खालिक
सब घट रह्यो समाई।

अतएव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रहस्यवाद अपने एकान्त स्वरूप में एक अलौकिक विज्ञान है जिसमें अनंत के संबन्ध की भावना का प्रादुर्भाव होता है और रहस्यवादी वह व्यक्ति है जो इस संबन्ध के अत्यन्त निकट पहुँचता है। उसे कहता ही नहीं, उसे जानता ही नहीं वरन् उस संबन्ध ही का रूप धारण कर वह अपनी आत्मा को आनन्द में लीन हो जाता है।

अब हमें ऐसी स्थिति का परिचय पाना है जहाँ आत्मा भौतिक बन्धनों का बहिष्कार कर, संसार के नियमों का प्रतिकार कर, ऊपर उठती है और उस अनंत जीवन में प्रवेश करती है जहाँ आराधक और आराध्य मिल जाते हैं, जहाँ आत्मा और अनंत शक्ति का ऐक्य हो जाता है। जहाँ आत्मा यह भूल जाती है कि वह संसार की निवासिनी है और उसका इस दैवी वातावरण में आना एक अतिथि के आने के समान है। वह यह बोलने लगती है कि—

मैं सबनि औरनि मैं हूँ सब
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो।
कोइ कहौ कबीर, कोइ कहौ रामराई हो।
ना हम बार बूढ़ नाहीं हम,
न हमरे चिलकाई हो।
पठरा न जाऊँ अरवा नहीं आऊँ,
सहजि रहूँ हरि आई हो।
ओढ़न हमरे एक पछेवरा,
लोग बोलै इकताई हो।

जुलहै तनि बुनि पान न पावल,
फारि बुनी दस ठाईं हो।
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल,
तब हमरो नाम रामराई हो।
जग में देखौं जग न देखै मोहि,
इहि कबीर कछु पाई हो।

अँग्रेजी कवि जार्ज हरबर्ट ने भी ऐसा कहा है :—

'ओ ! अब भी मेरे हो जाओ, अब भी मुझे अपना बना लो, इस 'मेरे' और 'तेरे' का भेद ही न रक्खो।'[1]

ऐसी स्थिति का निश्चित रूप से निर्देश नहीं किया जा सकता। इस संयोग के पास पहुँचने के पूर्व न जाने कितनी दशाएँ, उनमें भी न जाने कितनी अन्तर्दशाएँ हैं, जिनसे रहस्यवाद के उपासक अपनी शक्ति भर ईश्वरीय अनुभूति पाना चाहते हैं। इसलिए रहस्यवादियों की उत्कृष्टता में अंतर जान पड़ता है। कोई केवल ईश्वर की अनुभूति करता है, कोई उसे केवल प्यार कर सकने योग्य बना सका है, कोई अभिन्नता की स्थिति पर है और कोई पूर्ण रूप से आराध्य के अधीन है। सेंट आगस्टाईन, कबीर, जलालुद्दीन रूमी यद्यपि ऊँचे रहस्यवादी थे तथापि उनकी स्थितियों में अंतर था।

परिस्थितियाँ

इन रहस्यवादियों की उद्देश्य-प्राप्ति में तीन परिस्थितियों की कल्पना कर सकते हैं। पहली परिस्थिति तो वह है जहाँ व्यक्ति-विशेष अनंत

१. O, be mine still, make me thine
Or rather make no thine or mine
(George Herbert)

शक्ति से अपना संबंध जोड़ने के लिए अग्रसर होता है। वह संसार की सीमा को पार कर ऐसे लोक में पहुँचता है जहाँ भौतिक बन्धन नहीं, जहाँ संसार के नियम नहीं, जहाँ उसे अपने शारीरिक अवरोधों की परवाह नहीं है। वह ईश्वर के समीप पहुँचता है और दिव्य-विभूतियों को देख कर चकित हो जाता है। यह रहस्यवादी की प्रथम स्थिति है। इस स्थिति का वर्णन कबीर ने बड़ी सुन्दर रीति से किया है:—

> घट घट में रटना लागि रही,
>
> परघट हुआ अलेख जी।
>
> कहुँ चोर हुआ कहुँ साह हुआ,
>
> कहुं बाम्हन है कहुँ सेख जी॥

कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ संसार की सभी वस्तुएँ अनन्त शक्ति में विश्राम पाती हैं और सभी अनंत सत्ता में आकर मिल जाती हैं। यहाँ रहस्यवादी ने अपने लिए कुछ भी नहीं कहा है, वह चुप है। उसे ईश्वर की इस अनंत शक्ति पर आश्चर्य-सा होता है। वह मौन होकर इन बातों को देखता-सुनता है। यद्यपि इस समय वह अपना व्यक्तित्व भूल जाता है तथापि ईश्वर की अनुभूति स्वयं अपने हृदय में पाने में असमर्थ रहता है। इसे हम रहस्यवादियों की प्रथम स्थिति कहेंगे।

द्वितीय स्थिति तब आती है जब आत्मा परमात्मा से प्रेम करने लग जाती है। भावनाएँ इतनी तीव्र हो जाती हैं कि आत्मा में एक प्रकार का उन्माद या पागलपन छा जाता है। आत्मा मानों प्रकृति का रूप रख पुरुष—आदि पुरुष—से प्यार करती है। संसार की अन्य वस्तुएँ उसकी नजर से हट जाती हैं। आश्चर्य-चकित होने की अवस्था निकल जाती है और रहस्यवादी चुपचाप अपने आराध्य को प्यार करने लग जाता है। वह प्यार इतना प्रबल होता है कि उसके समक्ष विश्व की कोई वस्तु स्थिर नहीं रह सकती। वह प्रेम बरसात के उस प्रबल नद की भाँति होता है जिसके सामने कोई भी वस्तु नहीं ठहर सकती—पेड़,

पत्थर, झाड़-झंखाड़ सब उस प्रवाह में बह जाते हैं। उसी प्रकार इस प्रेम के आगे कोई भी वासना नहीं ठहर सकती। सभी भावनाएँ, हृदय की सभी वासनाएँ बड़े वेग से एक ओर को बह जाती हैं और एक—केवल एक—भाव रह जाता है, और वह है प्रेम का प्रवाह। जिस प्रकार किसी जल-प्रपात के नाद में समीप के सभी छोटे-छोटे स्वर अन्तर्हित हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार उस ईश्वरीय प्रेम में सारे विचार या तो लुप्त हो जाते हैं अथवा उसी प्रेम के बहाव में बह जाते हैं। फिर कोई भावना उस प्रेम के प्रबल प्रवाह को रोकने के लिए आगे नहीं आ सकती।

रेनाल्ड ए० निकल्सन ने लंदन यूनिवर्सिटी में "सूफ़ीमत में व्यक्तित्व" पर तीन भाषण दिये थे। वे सूफ़ीमत के संबंध में कहते हैं :—

[१]यह सत्य है कि परमात्मा के मिलापानुभव में मध्यस्थ के लिए कोई स्थान नहीं है। वहाँ तो केवल एकान्त दैवी सम्मिलन की अनुभूति ही हृदयंगम होती है। वस्तुतः हम यह भावना विशेषकर प्राचीन सूफ़ियों में पाते हैं कि परमात्मा ही उपासना की एक मात्र वस्तु हो, दूसरी वस्तुओं का ध्यान करना उसके प्रति अपराध करना है।

'तज़किरातुल औलिया' से भी इसी मत की पुष्टि होती है। उसमें बसरा की स्त्री-संत राबेआ के विषय में लिखा है :—

---

१. It is true that in the experience of union with God, there is no room for a Mediator. Here the absolute Divine Unity is realised. And cfcourse, we find especially among the ancient Sufis, a feeling that God must be the sole object of adoration, that any regard for other objects is an offence against Him.

रिनाल्ड ए० निकल्सन रचित "दि आइडिया ऑव् पर्सनालिटी इन सूफ़ीज़्म", पृष्ठ ६३

[1]कहा है कि उसने (राबेश्रा ने) कहा—रसूल को मैंने स्वप्न में देखा। रसूल ने पूछा, "ए राबेश्रा, मुझसे मैत्री रखती हो ?"

जवाब दिया "ऐ अल्लाह के रसूल, कौन है जो तुमसे मैत्री नहीं रखता, किन्तु ईश्वर के प्रेम ने मुझे ऐसा बाँध लिया है कि उससे अन्य के लिए मेरे हृदय में मित्रता अथवा शत्रुता का स्थान नहीं रह गया है।"

रहस्यवादी की यह गंभीर परिस्थिति है जहाँ वह अपने आराध्य के प्रेम से इतना ओत-प्रोत हो जाता है कि उसे अन्य कुछ सोचने का अवकाश ही नहीं मिलता।

इसके पश्चात् रहस्यवादियों की तीसरी स्थिति आती है जो रहस्य-वाद की चरम सीमा कहला सकती है। इस दशा में आत्मा और परमात्मा का इतना ऐक्य हो जाता है कि फिर उनमें कोई भिन्नता नहीं रहती। आत्मा अपने में परमात्मा का अस्तित्व मानती है और परमात्मा के गुणों को प्रकट करती है। जिस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में आग और लोहे का एक गोला, ये दोनों भिन्न हैं पर जब आग से तपाये जाने पर गोला भी लाल होकर अग्नि का स्वरूप धारण कर लेता है तब उस लोहे के गोले में वस्तुओं के जलाने की वही शक्ति आ जाती है जो आग में है। यदि गोला आग से अलग भी रख दिया जाय तो भी वह लाल स्वरूप रख कर अपने चारों ओर आँच फेंकता रहेगा। यही हाल आत्मा और परमात्मा के संसर्ग से होता है। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था

---

१. नक्ल अस्त कि गुफ्त रसूल रा दरख्वाब दीदम गुफ्त या राबेश्रा, मरा दोस्त दारी—गुफ्तम या रसूल अल्लाह कि बूवद तुरा दोस्त न दारद। लेकिन मुहब्बते हक़ मरा चुनां फ़रोगिरिफ़्ता अस्त कि दुश्मनी व दोस्ती-ए ग़ैरे ऊरा दर दिलम जाय न मांदा अस्त॥

तज़किरातुल औलिया, पृष्ठ ४६

मात्बा मुजतबाई, देहली,

मुहम्मद अब्दुल अहद द्वारा सम्पादित, १३२७ हिजरी।

में माया के वातावरण में आत्मा और परमात्मा दो भिन्न शक्तियाँ जान पड़ती हैं पर जब दोनों आपस में मिलती हैं तो परमात्मा के गुणों का प्रवाह आत्मा में इतने अधिक वेग से होता है कि आत्मा के स्वाभाविक निज के गुण लुप्त हो जाते हैं और परमात्मा के गुण प्रकट जान पड़ते हैं। यही अभिन्न सम्बन्ध रहस्यवादियों की चरम सीमा है। इसका फल क्या होता है।

—गंभीर एकान्त सत्य का परिचय
—परम शान्ति की अवतारणा
—जीवन में अनन्त शक्ति और चेतना
—प्रेम का अभूतपूर्व आविर्भाव
श्रद्धा और भय........

—भय, वह भय नहीं जिससे जीवन की शक्तियों का नाश हो जाता है किन्तु वह भय जो आश्चर्य से प्रादुर्भूत होता है और जिसमें प्रेम, श्रद्धा और आदर की महान् शक्तियाँ छिपी रहती हैं। ऐसी स्थिति में जीवन में व्यापक शक्तियाँ आती हैं और आत्मा इस बंधन-मय संसार से ऊपर उठकर उस लोक में पहुँच जाती है जहाँ प्रेम का अस्तित्व है और जिसके कारण आत्मा और परमात्मा में कुछ भिन्नता प्रतीत नहीं होती। अनंत की दिव्य विभूति जीवन का आवश्यक अंग बनती है और शरीर की सारी शक्तियाँ निरालंब होकर अपने को अनंत की गोद में छोड़ देती हैं।

जिस प्रकार मछलियाँ समुद्र में तैरती हैं, जिस प्रकार पक्षी वायु में झूलते हैं, तेरे आलिंगन से हम विमुख नहीं हो सकते। हम साँस लेते हैं और तू वहाँ वर्तमान है।[१]

१. As fishes swim in briny sea
As fouls do float in the air
From the embrace we can not flee,
We breathe and Thou art there.
(John Stuart Blackie)

इस प्रकार रहस्यवादी साधक दैवी शक्ति से युक्त होकर संसार के अन्य मनुष्यों से बहुत ऊपर उठ जाता है। उसका अनुभव भी अधिक विस्तृत और आध्यात्मिक हो जाता है। उसका संसार ही दूसरा हो जाता है और वह किसी दूसरे ही वातावरण में विचरण करने लगता है।

किन्तु रहस्यवादी की यह अनुभूति व्यक्तिगत ही समझनी चाहिए। उसका एक कारण है। वह अनुभूति इतनी दिव्य, इतनी अलौकिक होती है कि संसार के शब्दों में उसका स्पष्टीकरण असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। वह कांति दिव्य है, अलौकिक है। उसे साधारण आँखों से नहीं देख सकते। वह ऐसा गुलाब है जो किसी बाग में नहीं लगाया जा सकता, केवल उसकी सुगंधि ही पाई जा सकती है। वह ऐसी सरिता है कि उसे किसी गहन वन में नहीं देख सकते वरन् उसे 'कलकल' नाद करते हुए ही सुन सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की भाषा इतनी ओछी है कि उसमें हम पूर्ण रूप से रहस्यवाद की अनुभूति प्रकट ही नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि रहस्यवाद की यह भावुक विवेचना समझने की शक्ति भी तो सर्वसाधारण में नहीं है। रहस्यवादी अपने अलौकिक आनन्द में विभोर होकर यदि कुछ कहता है तो लोग उसे पागल समझते हैं। साधारण मनुष्यों के विचार इतने उथले हैं कि उनमें रहस्यवाद की अनुभूति समा ही नहीं सकती। इसीलिए 'अलहल्लाज मंसूर' अपनी अनुभूति का गीत गाते-गाते थक गया पर लोग उसे समझ ही नहीं सके। लोगों ने उसे ईश्वरीय सत्ता का विनाश करनेवाला समझ कर फाँसी दे दी। इसीलिए रहस्यवादियों को अनेक स्थलों पर चुप रहना पड़ता है। उसका कारण वे ही बतला सकते हैं कि :—

'नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत।'

इस विचार को निकलसन और ली द्वारा संपादित और क्लैरेंडन प्रेस आक्सफ़र्ड से प्रकाशित 'दि आक्सफ़र्ड बुक आव् इंग्लिश मिस्टिकल वर्स' की प्रस्तावना में हम बड़े अच्छे रूप में पाते हैं :—

वस्तुतः रहस्यवाद का सारभूत तत्व कभी प्रकाशित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह उस अनुभव से पूर्ण है जो शाब्दिक अर्थ में अंतरतम पवित्र प्रदेश का अव्यक्त रहस्य है और इसीलिए अपमानित होने के भय से रहित है। क्योंकि केवल वे ही उसे समझ सकते हैं जो उस पवित्र प्रदेश में प्रवेश कर पाते हैं, अन्य नहीं। यहाँ तक कि प्रविष्ट हुए व्यक्ति भी फिर बाहर आने पर उस भाषा की असमर्थता के कारण जिसके द्वारा वे अपने उत्कृष्ट व्यापार को प्रकट करते, अपने ओठों को बन्द पाते हैं (कुछ बोल नहीं सकते)। जो कुछ उन्होंने देखा अथवा जाना है उसके प्रकाशित करने के लिए प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा में कोई शब्द नहीं है और कम से कम क्या वे तर्क या न्याय की विचार-शृंखला के साधनों अथवा वाक्यांशों से अपने विचारों के पर्याप्त प्रदर्शन की आशा रख सकते हैं?[१]

फिर रहस्यवादी कविता ही में क्यों अपने विचारों को अधिकतर प्रकट करते हैं, इसका कारण भी सुन लीजिए :—

---

१. The most essential part of mysticism can not, of course, ever pass into expression, in as much as it consists in an experience which is in the most literal sense ineffable. The secret of the inmost sanctuary is not in danger of profanation, since none but those who penetrate into that sanctuary can understand it, and those even who penetrate find, on passing out again, that their lips are sealed by the sheer inefficiency of language as a medium for conveying the sense of their supreme adventure. The speech of every day has no terms for what they have seen or known and least of all can they hope for adequate expression through the phrases and apparatus of logical reasoning?

गद्य के अपरिष्कृत विषय को ऐसे रूप में परिवर्तित करने की निराश चेष्टा में जिससे उनकी आवश्यकता की पूर्ति किसी रूप में हो सके, बहुत से (रहस्यवादी) कविता की ओर जाते हैं जो उनके अनुभव के कुछ संकेतों को हीन-से-हीन पर्याप्त रूप में प्रकाशित कर सकें। अपनी कविता की मुख्य ध्वनि से उसकी अप्रस्तुत रूप में अपरिमित व्यंग्य शक्ति के विलक्षण गुण से, उसकी लचक से वे प्रयत्न करते हैं कि उसी अनंत सत्य के कुछ संकेतों को प्रकाशित कर दें जो सदैव सब वस्तुओं में निहित है। ठीक उसी ध्वनि, उसी तेज और उनकी रचनाओं के ठीक उसी उत्कृष्ट जादू से, उसी प्रकाश से कुछ किरणें फूट निकलती हैं जो वास्तव में दिव्य हैं।[1]

अब कबीर के रहस्यवाद पर दृष्टि डालिए।

कबीर का रहस्यवाद अपना विशेषता लिये हुए है। वह एक ओर तो हिन्दुओं के अद्वैतवाद के क्रोड़ में पोषित है और दूसरी ओर मुसलमानों के सूफ़ी-सिद्धान्तों को स्पर्श करता है। इसका विशेष कारण यही है कि

---

१. In despair of moulding the stubborn stuff of prose into a form that will even approximate to their need, many of them turn, therefore, to poetry as the medium which will convey least inadequately some hints of their experience. By the rhythm of the glamour of their verse, by its peculiar quality of suggesting infinitely more than it ever says directly, by its elasticity they struggle to give what hints they may of the Reality that is eternally underlying all things and it is precisely through that rhythm and that glamour and the high enchantment of their writing that some rays gleam from the light which is supernal.

दि आक्सफ़र्ड बुक ऑव मिस्टिकल वर्स—इण्ट्रोडक्शन।

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रकार के सन्तों के सत्संग में रहे और वे प्रारम्भ से ही यह चाहते थे कि दोनों धर्म वाले आपस में दूध-पानी की तरह मिल जायँ। इसी विचार के वशीभूत होकर उन्होंने दोनों मतों से सम्बन्ध रखते हुए अपने अनुभवों का निरूपण किया। रहस्यवाद में भी उन्होंने अद्वैतवाद और सूफ़ीमत की 'गंगा-जमुनी' साथ ही बहा दी।

अद्वैतवाद

अद्वैतवाद ही मानो रहस्यवाद का प्राण है। शंकर के अद्वैतवाद में जो ईसा की ८वीं सदी में प्रादुर्भूत हुआ, आत्मा और परमात्मा की वस्तुतः एक ही सत्ता है। माया के कारण ही परमात्मा के नाम और रूप का अस्तित्व है। इस माया से छुटकारा पाना ही मानों आत्मा और परमात्मा की फिर एक बार एक ही सत्ता स्थापित करना है। आत्मा और परमात्मा एक ही शक्ति के दो भाग हैं जिन्हें माया के परदे ने अलग कर दिया है। जब उपासना या ज्ञानार्जन पर माया नष्ट हो जाती है तब दोनों भागों का पुनः ऐक्य हो जाता है। कबीर इसी बात को इस प्रकार लिखते हैं :—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी॥

एक घड़ा जल में तैर रहा है। उस घड़े में थोड़ा पानी भी है। घड़े के भीतर जो पानी है वह घड़े के बाहर के पानी से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है। किन्तु वह इसलिए अलग है क्योंकि घड़े की पतली चादर उन दोनों अंशों को मिलने नहीं देती, जिस प्रकार माया ब्रह्म के दो स्वरूपों को अलग रखती हैं। कुंभ के फूटने पर पानी के दोनों भाग मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार माया के आवरण के हटने पर आत्मा और परमात्मा का संयोग हो जाता है। यही अद्वैतवाद कबीर के रहस्यवाद का आधार है।

दूसरा आधार है मुसलमानों का सूफ़ीमत। हम यह निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि उन्होंने सूफ़ीमत के प्रतिपादन के लिए ही अपने 'शब्द'

कहे हैं पर यह निश्चय है कि मुसलमानी संस्कारों के कारण उनके विचारों में सूफ़ीमत का तत्व मिलता है ।

सूफ़ीमत

ईसा की आठवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म में एक विप्लव हुआ । राजनीतिक नहीं, धार्मिक । पुराने विचारों के कट्टर मुसलमानों का एक विरोधी दल उठ खड़ा हुआ । यह फ़ारस का एक छोटा-सा संप्रदाय था । इसने परंपरागत मुस्लिम आदर्शों का ऐसा घोर विरोध किया कि कुछ समय तक इस्लाम के धार्मिक क्षेत्र में उथल-पुथल मच गई । इस संप्रदाय ने संसार के सारे सुखों को तिलांजलि-सी दे दी । संसार के सारे ऐश्वर्यों और सुखों को स्वप्न की भाँति भुला दिया । बाह्य शृङ्गार और बनावटी बातों से उसे एक बार ही घृणा हो गई । उसने एक स्वतंत्र मत की स्थापना की । सादगी और सरलता ही उसके बाह्य जीवन की अभिरुचि बन गई । कीमती कपड़े और स्वादिष्ट भोजन से उसे घृणा हो गई । सरलता और सादगी का आदर्श अपने सम्मुख रख कर संप्रदाय ने अपने शरीर के वस्त्र बहुत ही साधारण रक्खे । वे सफ़ेद ऊन के साधारण वस्त्र थे । फ़ारसी में सफ़ेद ऊन को 'सूफ़' कहते हैं । इसी शब्दार्थ के अनुसार सफेद ऊन के वस्त्र पहिनने वाले व्यक्ति 'सूफ़ी' कहलाने लगे । उनके परिधान के कारण ही संभवतः उनके नाम की सृष्टि हुई ।

सूफ़ीमत में भी यद्यपि बंदे और खुदा का एकीकरण हो सकता है पर उसमें माया का कोई विशेष स्थान नहीं है । जिस प्रकार एक पथिक अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए प्रस्थान करता है, मार्ग में उसे कुछ स्थल पार करने पड़ते हैं, उसी प्रकार सूफ़ीमत में आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए व्यग्र होकर अग्रसर होती है । परमात्मा से मिलने के पहले आत्मा को चार दशाएँ पार करनी पड़ती हैं :—

१. शरियत
२. तरीक़त

३. हक़ीक़त

४. मारिफ़त

इस मारिफ़त में जाकर आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन होता है। वहाँ आत्मा स्वयं 'फ़ना' होकर 'बक़ा' के लिए प्रस्तुत होती है। इस प्रकार आत्मा में परमात्मा का अनुभव होने लगता है और 'अनलहक़' सार्थक हो जाता है। अपने अनुराग में चूर होकर आत्मा यह आध्यात्मिक यात्रा पार कर ईश्वर से मिलती है और तब दोनों शराब-पानी की तरह मिल जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि सूफ़ीमत में प्रेम का अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रेम ही कर्म है, और प्रेम ही धर्म है। सूफ़ीमत मानों स्थान-स्थान पर प्रेम के आवरण से ढका हुआ है। उस सूफ़ीमत के बाग़ को प्रेम के फुहारे सदा सींचते रहते हैं। निस्वार्थ प्रेम ही सूफ़ीमत का प्राण है। फ़ारसी के जितने सूफ़ी कवि हैं वे कविता में प्रेम के अतिरिक्त कुछ जानते ही नहीं हैं। प्रमाणस्वरूप जलालुद्दीन रूमी और जामी के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं।

प्रेम के साथ इस सूफ़ीमत में प्रेम का नशा भी प्रधान है। उसमें नशे के ख़ुमार का और भी महत्त्वपूर्ण अंश है। उसी नशे के ख़ुमार की बदौलत ईश्वर की अनुभूति का अवसर मिलता है। फिर संसार की कोई स्मृति नहीं रहती, शरीर का कुछ ध्यान नहीं रहता। केवल परमात्मा की 'लौ' ही सब कुछ होती है। कबीर ने भी एक स्थान पर लिखा है :—

हरि रस पीया जानिये, कबहुँ न जाय खुमार।
मैंमंता घूमत फिरे, नाहीं तन की सार॥

एक बात और है। सूफ़ीमत में ईश्वर की भावना स्त्री रूप में मानी गई है। वहाँ भक्त पुरुष बन कर ईश्वर रूपी स्त्री की प्रसन्नता के लिए सौ जान से निसार होता है, उसके हाथ की शराब पीने को तरसता है, उसके द्वार पर जाकर प्रेम की भीख माँगता है। ईश्वर एक दैवी स्त्री के

रूप में उसके सामने उपस्थित होता है। उदाहरणार्थ रूमी की एक कविता का भावार्थ यह है :—

प्रियतमा के प्रति प्रेमी की पुकार

मेरे विचारों के संघर्ष से मेरी कमर टूट गई है।
ओ प्रियतमे, आओ और करुणा से मेरे सिर का स्पर्श करो।
मेरे सिर से तुम्हारी हथेली का स्पर्श मुझे शांति देता है।
तुम्हारा हाथ ही तुम्हारी उदारता का सूचक है।
मेरे सिर से अपनी छाया को दूर मत करो।
मैं संतप्त हूँ, संतप्त हूँ। संतप्त हूँ।
..................।
ऐ, मेरा जीवन ले लो,

तुम जीवन-स्रोत हो क्योंकि तुम्हारे विरह में मैं अपने जीवन से क्लांत हूँ। मैं वह प्रेमी हूँ जो प्रेम के पागलपन में निपुण है।

मैं विवेक और बुद्धि से हैरान हूँ।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अद्वैतवाद में आत्मा और परमात्मा के एक होने में चिंतन और माया का बड़ा महत्त्व-पूर्ण भाग है और सूफ़ीमत में उसी के लिए हृदय की चार अवस्थाओं और प्रेम का। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि कबीर का रहस्यवाद हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के सूफ़ीमत पर आश्रित है। इस-लिए कबीर ने अपने रहस्यवाद के स्पष्टीकरण में दोनों की—अद्वैतवाद और सूफ़ीमत की—बातें ली हैं। फलतः उन्होंने अद्वैतवाद से माया और चिंतन तथा सूफ़ीमत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है। सूफ़ीमत के स्त्री-रूप भगवान की भावना ने अद्वैतवाद के पुरुष-रूप भगवान के सामने सिर झुका लिया है। इस प्रकार कबीर ने दोनों सिद्धांतों से अपने काम के उपयुक्त तत्त्व लेकर शेष बातों पर ध्यान ही नहीं दिया है।

इस विषय में कबीर की कविता का उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

परमात्मा की अनुभूति के लिए आत्मा प्रेम से परिपूर्ण होकर अग्रसर होती है। वह सांसारिकता का बहिष्कार कर दिव्य और अलौकिक वातावरण में उठती है। वह उस ईश्वर के समीप पहुँच जाती है जो इस विश्व का निर्माणकर्त्ता है। उस ईश्वर का नाम है—सत्पुरुष। सत्पुरुष के संसर्ग से वह आत्मा उस दैवी शक्ति के कारण हतबुद्धि सी हो जाती है। वह समझ ही नहीं सकती कि परमात्मा क्या है, कैसा है! वह अवाक् रह जाती है। वह ईश्वरीय शक्ति अनुभव करती है पर उसे प्रकट नहीं कर सकती है। इसीलिए 'गूँगे के गुड़' के समान वह स्वयं तो परमात्मानुभव करती है पर प्रकट में कुछ भी नहीं कह सकती। कुछ समय के बाद जब उसमें कुछ बुद्धि आती है और कुछ जबान खुलती है तो वह एकदम से पुकार उठती है :—

कहहि कबीर पुकारि के, अद्भुत कहिए ताहि।

उस समय आत्मा में इतनी शक्ति ही नहीं होती कि वह परमात्मा की ज्योति का निरूपण करने में समर्थ हो। वह आश्चर्य और जिज्ञासा की दृष्टि से परमात्मा की ओर देखती रहती है। अंत में बड़ी कठिनता से कहती है :—

बरणहुँ कौन रूप औ रेखा,
दोसर कौन आहि जो देखा।
ओंकार आदि नहिं वेदा,
ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥

× × ×

नहिं जल, नहिं थल, नहिं थिर पवना
को धरे नाम हुकुम को बरना
नहिं कछु होति दिवस औ राती।
ताकर कहहु कौन कुल जाती॥

शून्य सहज मन स्मृति ते प्रकट भई एक जोति।
ता पुरुष की बलिहारी, निरालंब जे होति॥

रमैनी ६

यहाँ आत्मा सत्य पुरुष का रूपदेख कर मुग्ध हो जाती है। धीरे-धीरे आत्मा परमात्मा की ज्योति में लीन होकर विश्व की विशालता का अनुभव करती है और उस समय वह आनंदातिरेक से परमात्मा के गुण वर्णन करने लगती है :—

जाहि कारण शिव अजहुं वियोगी।
अंग विभूति लाइ भे जोगी॥
शेष सहज मुख पार न पावैं।
सो अब खसम सहित समुझावैं॥

इतना सब कहने पर भी अन्त में यही शेष रह जाता है कि—

तहिया गुप्त स्थूल नहिं काया।
ताके शोक न ताके माया॥
कमल पत्र तरंग इक माहीं।
संग ही रहै लिप्त पै नाहीं॥
आस ओस अंडन में रहई।
अगनित अंडन कोई कहई॥
निराधार आधार लै जानी।
राम नाम लै उचरै बानी॥

× × ×

भर्म क बाँधल ई जागत, कोइ न करै बिचार।
हरि की भक्ति जाने बिना, भव बूड़ि मुआ संसार॥

रमैनी ७४

इसी प्रकार संसार के लोगों को उपदेश देती हुई आत्मा कहती है :—

जिन यह चित्र बनाइया, साँचो सो सूरति हार।
कहहि कबीर ते जन भले, जे चित्रवंतहि लेहि बिचार।

इस प्रेम की स्थिति बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँचती है कि आत्मा स्वयं परमात्मा की स्त्री बनकर उसका एक भाग बन जाती है। यही इस प्रेम की उत्कृष्ट स्थिति है।

एक अंड उंकार ते, सब जग भया पसार।
कहहि कबीर सब नारी राम की, अविचल पुरुष भतार॥

रमैनी २७

और अन्त में आत्मा कहती है :—

हरि मोर पीव माई, हरि मोर पीव।
हरि बिन रहि न सकै मोर जीव।
हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।

शब्द ११७

और

जो पै पिय के मन नहिं भाये।
तौ का परोसिन के दुलराये॥
का चूरा पाइल झमकाएँ।
कहा भयो बिछुआ ठमकाएँ॥
का काजल सेंदुर के दीये।
सोलह सिंगार कहा भयो कीये॥
अंजन मंजन करै ठगौरी।
का पचि मरै निगोड़ी बौरी।
जो आपै पतिव्रता है नारी।
कैसे हो रहौ सो पियहिं पियारी।
तन मन जोबन सौंपि सरीरा।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा॥

इस रहस्यवाद की चरम सीमा उस समय पहुँच जाती है जब आत्मा पूर्ण रूप से परमात्मा में सम्बद्ध हो जाती है, दोनों में कोई अंतर नहीं रह

जाता। यहाँ आत्मा अपनी आकांक्षा पूर्ण कर लेती है और फिर आत्मा और परमात्मा की सत्ता एक हो जाती है। कबीर उस स्थिति का अनुभव करते हुए करते हैं :—

हरि मरि हैं तो हम हूं मरि हैं।
हरि न मरै हम काहे को मरि हैं॥

आत्मा और परमात्मा में इस प्रकार मिलन हो जाता है कि एक के विनाश से दूसरे का विनाश और एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व सार्थक होता है। फ़ारसी में इसी विचार का एक बड़ा सुन्दर अवतरण है। निकल्सन ने उसका अंग्रेजी में अनुवाद कर दिया है, उसका तात्पर्य यही है :—

जब वह (मेरा जीवन तत्त्व) 'दूसरा' नहीं कहलाता तो मेरे गुण उसके (प्रियतमा के) गुण हैं और जब हम दोनों एक हैं, तो उसका बाह्य रूप मेरा है। यदि वह बुलाई जाय तो मैं उत्तर देता हूँ और यदि मैं बुलाया जाता हूँ तो वह मेरे बुलाने वाले को उत्तर देती है और कह उठती है 'लब्बयक' (जो आज्ञा)। वह बोलती है मानों मैं ही वार्तालाप कर रहा हूँ, उसी प्रकार यदि मैं कोई कथा कहता हूँ तो मानो वही उसे कहती है। हम लोगों के बीच में मध्यम पुरुष सर्वनाम ही उठ गया है। और उसके न रहने से मैं विभिन्न करने वाले समाज से ऊपर उठ गया हूँ।[१]

इस चरम सीमा को पाना ही कबीर के उपदेश का तत्त्व था। उनकी उल्टवाँसियों में इसी आत्मा और परमात्मा का रहस्य भरा हुआ है।

---

१. When it (essence) is not called two, my attributes are hers, and since we are one, her outward aspect is mine.

If she be called, 'tis I who answer, and I am summoned, she answers him who calls me and cries labbayak (At the Service.)—Continued

इस प्रकार रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति हम कबीर की कविता में पाते हैं।

अब हमें कबीर के रूपकों पर विचार करना है।

जो रहस्यवादी अपने भावों को थोड़ा प्रकट कर सके हैं उनके विषय में एक बात और विचारणीय है। वह यह कि ये रहस्यवादी स्वभावतः अपने विचारों को किसी रूपक में प्रकट करते हैं। वे स्पष्ट रूप से अपने भाव कहने में असमर्थ हो जाते हैं क्योंकि अनुभूत भाव-सौंदर्य इतना अधिक होता है कि वे साधारण शब्दों में उसे व्यक्त नहीं कर सकते। उनका भावोन्माद इतना अधिक होता है कि बोलचाल के साधारण शब्द उनका बोझ नहीं सम्हाल सकते। इसीलिए उन्हें अपने भावों को प्रकट करने के लिए रूपकों की शरण लेनी पड़ती है। अँग्रेजी में भी जो रहस्यवादी कवि हो गए हैं उन्होंने भी इसी रूपक भाषा[१] को अपनाया है। यह रूपक उन रहस्यवादियों के हृदय में इस प्रकार बिना श्रम के चला जाता है जिस प्रकार किसी ढालू ज़मीन पर जल की धारा। फल यह होता है कि रहस्यवादी स्वयं भूल जाता है कि जो कुछ वह भावोन्माद में, आनंदोद्रेक में कह गया वह लोगों को किस प्रकार समझावे, इसीलिए समालोचकगण चक्कर में पड़ जाते हैं कि अमुक रूपक के क्या अर्थ हैं? उस पद का क्या अर्थ हो सकता है। यदि समालोचक वास्तव में कवि के हृदय की दशा जान जावें तो वे कवि को न पागल कहेंगे और न प्रलापी।

कबीर का रहस्यवाद बहुत गहरा है। उन्होंने संसार के परे अनन्त

And if she speak, 'tis I who converse. Like wise if I tell a story, 'its she that tells it.'

The pronoun of second person has gone out of use between us, and by its removal I am raised above the sect who separate.

दि आइडिया ऑव पर्सनेलिटी इन सूफ़ीज्म, पृष्ठ २०

१. The Language of Symbols.

शक्ति का परिचय पाकर उससे अपने को संबद्ध कर लिया है। उसी को उन्होंने अपने रूपकों में प्रदर्शित किया है। एक रूपक लीजिए :—

हरि मोर रहटा, मैं रतन पिउरिया।
हरि का नाम ले कतति बहुरिया॥
छौ मास तागा बरस दिन कुकरी।
लोग कहैं भल कातल बपुरी॥
कहहि कबीर सूत भल काता।
चरखा न होय मुक्ति कर दाता॥

देखने से अर्थ सरल ज्ञात होगा, पर वास्तव में वह कितनी गहरी भावनाओं से ओत-प्रोत है यह विचारणीय है। रूपक भी चरखे से लिया गया है, इसलिए कि कबीर जुलाहे थे, ताना-बाना और चरखा उनकी आँखों के सामने सदैव झूलता होगा। उनकी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति पर किसी को आश्चर्य न होगा। अब यदि चरखे का रूपक उस पद से हटा लिया जाय तो विचार की सारी शक्ति ढीली पड़ जायगी और भावों का सौंदर्य बिखर जायगा। उसका यह कारण है कि रूपक बिलकुल स्वाभाविक है। कबीर को चलते-फिरते यह रूपक सूझ गया होगा। स्वाभाविकता ही सौंदर्य है अतएव इस स्वाभाविक रूपक को हटाना सौंदर्य का नाश करना है। यहाँ यह स्पष्ट है कि आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध चित्रित करने में रूपक का सहारा कितना महत्व रखता है! रहस्यवादियों ने तो यहाँ तक किया है कि यदि उन्हें अपने भावों के उपयुक्त शब्द नहीं मिले तो उन्होंने नये गढ़ डाले हैं। मकड़ी के जाले के समान उनकी कविता विस्तृत है, उससे नये शब्द और भाव उसी प्रकार निर्मित किये गए हैं जिस प्रकार एक मकड़ी अपनी इच्छानुसार धागे बनाती और मिटाती है। कबीर के उसी रूपक का परिवर्धित उदाहरण लीजिए—

जौ चरखा जरि जाय, बढ़ैया ना मरै।
मैं कातौं सूत हजार, चरखुला जिन जरै॥

बाबा, मोर ब्याह कराव, अच्छा बरहि तकाय।
जो लौं अच्छा बर न मिलै, तौ लौं तुमहि बिहाय।।
प्रथम नगर पहुँचते, परिगो सोग संताप।
एक अचंभा हम देखा जो बिटिया ब्याहल बाप।
समधी के घर समधी आये, आये बहू के भाय।
गोड़े मां चूल्हा दै दै कै चरखा दियो दिढ़ाय।
देवलोक मर जायँगे, एक न मरै बढ़ाय।
यह मन रञ्जन कारणै चरखा दियो दिढ़ाय।
कहहि कबीर सुनो हो संतो चरखा लखै जो कोय।
जो यह चरखा लखि परै ताको आवागमन न होय।
बीजक शब्द ६८

इसका साधारण अर्थ यही है :—

यदि चरखा जल भी जाय तो उसका बनाने वाला बढ़ई नहीं मर सकता, पर यदि मेरा चरखा न जलेगा तो मैं उससे हज़ार सूत कातूँगी। बाबा, अच्छा वर खोज कर मेरा विवाह करा दीजिए, और जब तक अच्छा वर न मिले तब तक आप ही मुझसे विवाह कर लीजिए। नगर में प्रथम बार पहुँचते ही शोक और दुःख सिर आ पड़े। एक आश्चर्य हमने देखा है कि पिता के साथ पुत्री ने अपना विवाह कर लिया। फलतः एक समधी के घर दूसरे समधी आये और बहू के यहाँ भाई। चूल्हा में गोड़ा देकर (चरखे के विविध भागों को सटा कर) चरखा और मजबूत कर दिया। स्वर्ग में रहने वाले सभी देव मर जायँगे पर वह बढ़ई नहीं मर सकता जिसने मन को प्रसन्न रखने के लिए चरखे को और सुदृढ़ कर दिया है। कबीर कहते हैं, ओ संतो सुनो, जो कोई इस चरखे का वास्तविक रूप देखता है, जिसने इस चरखे को एक बार देख लिया उसका इस संसार में फिर आवागमन नहीं होता, वह संसार के बन्धनों से सदैव के लिए छूट जाता है।

सामान्य दृष्टि से देखने पर तो यह ज्ञात होता है कि सारे अवतरण

में भाव-साम्य ही नहीं हैं। एक विचार है, वह समाप्त होने ही नहीं पाया और दूसरा विचार आ गया। विचार की गति अनेक स्थलों पर टूट गई है। भावों का विकास अव्यवस्थित रूप से हुआ है, पर यदि रूपक के वातावरण से निकल कर—रूपक को एक-मात्र भावों के प्रकाशन का माध्यम मान कर हम उस अवतरण के अन्तरंग अर्थ को देखें तो भाव-सौन्दर्य हमें उसी समय ज्ञात हो जायगा। विचार की सजावट आँखों के सामने आ जायगी और हमें कवि का संदेश पढ़ते ही मिल जायगा।

रूपकों के अव्यवस्थित होने के कारण यह हो सकता है कि जिस समय कवि एकाग्र होकर दिव्य शक्ति का सौन्दर्य देखता है, संसार से बहुत ऊपर उठकर भाव-लोक में विहार करता है, उसी समय वह उस आनन्द और भाव के उन्माद को नहीं सँभाल सकता। उस मस्ती से दीवाना होकर वह भिन्न-भिन्न रीतियों से अपने भावों का प्रदर्शन करता है। शब्द यदि उसे मिलते भी हैं तो उसके विह्वल आह्लाद से वे बिखर जाते हैं और कवि का शब्द-समूह बूढ़े मनुष्य के निर्बल अङ्गों के समान शिथिल पड़ जाता है। यही कारण है कि भाषा की बागडोर उसके हाथ से निकल जाती है और वह असहाय होकर बिखरे हुए शब्दों में, अनियंत्रित वाग्धाराओं में, टूटे-फूटे पदों में अपने उन्मत्त भावों का प्रकाशन करता है। यही कारण है कि उसके रूपक कभी उन्मत्त होते हैं, कभी शिथिल और कभी टूटे-फूटे। अब रूपक का आवरण हटा कर जरा इस पद का सौंदर्य-देखिए :—

यदि काल-चक्र (चरखा) नष्ट भी हो जाय तो उसका निर्माणकर्ता (अनंत शक्ति संपन्न ईश्वर) कभी नष्ट नहीं हो सकता। यदि काल-चक्र न जले, न नष्ट हो, तो मैं सहस्त्रों कर्म कर सकता हूँ। हे गुरु, आप ईश्वर का परिचय पाकर उनसे मेरा संबंध करा दीजिए और जब तक ईश्वर न मिले तब तक आप ही मुझे अपने संरक्षण में रखिए। (जौ लौं अच्छा बर न मिलै तौ लौं तुमहि बिहाय।) आप से प्रथम बार ही दीक्षित होने पर मुझे इस बात की चिन्ता होने लगी कि मैं किस प्रकार आपकी आज्ञा-

पालन करने में समर्थ हो सकूँगा। पर मुझे आश्चर्य हुआ कि आपके प्रभाव से मेरी आत्मा अपने उत्पन्न करने वाले परम पिता ब्रह्म से जा कर सम्बद्ध हो गई। फल यह हुआ कि मेरे हृदय में ईश्वर की व्यापकता और भी बढ़ गई। समधी से समधी की भेंट हुई, आत्मा के पिता ब्रह्म से गुरु के पिता ब्रह्म की भेंट हुई, अर्थात् ईश्वर की अनुभूति दुगुनी हो गई। वाणी रूपी बहू के पास पांडित्य-रूपी भाई आया अर्थात् वाणी में विद्वत्ता और पांडित्य आ गया। उस समय कर्मकांडों से सज्जित काल-चक्र की दृढ़ता और भी स्पष्ट जान पड़ने लगी। सारे विश्व को एक नज़र से देख लेने पर इतना अनुभव हो गया कि विश्व की सभी वस्तुएँ मर्त्य हो सकती हैं पर वह अनन्त शक्ति जिसने काल-चक्र का निर्माण किया है कभी नष्ट नहीं हो सकती। उसने हृदय को सुचारु रूप से रखने के लिए इस काल-चक्र को और भी सुदृढ़ कर दिया। कबीर कहते हैं कि जिसने एक बार इस काल-चक्र के मर्म को समझ लिया वह कभी संसार के बन्धनों से बद्ध नहीं हो सकता। उसे ईश्वर की ऐसी अनुभूति हो जाती है कि उसके जन्म-मृत्यु का बन्धन नष्ट हो जाता है।

रूपक का बँधान कितना सुन्दर है! अब हमें यह स्पष्ट ज्ञात हो गया कि रूपक का सहारा लेकर रहस्यवादी किस प्रकार अपने भावों को प्रकट करते हैं। एक तो वे अपनी अनुभूति प्रकट नहीं कर सकते और जो कुछ वे कर सकते हैं ऐसे ही रूपकों के सहारे। डाक्टर फ़ायड का तो मत ही यही है कि आत्मा की भाषा रूपकों में ही प्रकट होती है।

और वे रूपक भी कैसे होते हैं! उनके सामने संसार की वस्तुएँ गुब्बारे की भाँति हैं जिसमें अनंत शक्ति की गैस भरी हुई है। यही गुब्बारे कवि की कल्पना के झोंके से यहाँ वहाँ उड़ते-फिरते हैं। कवि की कल्पना भी इस समय एक घड़ी के पेंडुलम का रूप धारण करती है। वह पृथ्वी और आकाश इन दो क्षेत्रों में बारी-बारी से घूमा करती है। आज ईश्वर की अनन्त विभूति है तो कल संसार की वस्तुओं में उस अनुभूति का प्रदर्शन है। सोमवार को कवि ने ईश्वर की अनंत शक्तियों में अपने

को मिला दिया था तो मंगलवार को वह कवि संसार में आकर उस दिव्य अनुभूति को लोगों के सामने बिखरा देता है।

कबीर के रूपकों के व्यवहार में एक बात और है। वह यह कि कबीर के रूपक स्वाभाविक होने पर भी कुछ जटिल है। यद्यपि उनके रूपक पुष्प की भाँति उत्पन्न होते हैं और उन्हीं की भाँति विकसित भी, पर उनमें दुरूहता के काँटे अवश्य होते हैं। शायद कबीर जटिल होना भी चाहते थे। यद्यपि वे लोगों के सामने अपने विचार प्रकट करना चाहते थे तथापि वे यह भी चाहते थे कि लोग उनके पदों को समझने की कोशिश करें। सोना खान के भीतर ही मिलता है, ऊपर नहीं। यदि सोना ऊपर ही बिखरा हुआ मिल जाय तो फिर उसका महत्त्व ही क्या रहा! उसी प्रकार कबीर के दिव्य वचन रूपकों के अन्दर छिपे रहते हैं। जो जिज्ञासु होंगे वे स्वयं ही परिश्रम कर समझ लेंगे अन्यथा मूर्खों के लिए ऐसे वचनों का उपयोग ही क्या हो सकता है! एक बार अंग्रेजी के रहस्यवादी कवि ब्लेक से भी एक महाशय ने प्रश्न किया कि उनके विचारों का स्पष्टीकरण करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता है। इस पर उन्होंने कहा, "जो वस्तु वास्तव में उत्कृष्ट है वह निर्बल व्यक्ति के लिए सदैव अगम्य होगी और जो वस्तु किसी मूर्ख को स्पष्ट की जा सकती है वह वास्तव में किसी काम की नहीं। प्राचीन समय के विद्वानों ने उसी ज्ञान को उपदेशयुक्त समझा था जो बिल्कुल स्पष्ट नहीं था, क्योंकि ऐसा ज्ञान कार्य करने की शक्ति को उत्तेजित करता है। ऐसे विद्वानों में मैं मूसा, सलोमन, ईसप, होमर और प्लेटो का नाम ले सकता हूँ।"

इसी विचार के वशीभूत होकर कबीर ने शायद कहा था :—

कहै कबीर सुनो हो संतो, यह पद करो निबेरा।

अब हम रहस्यवाद की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डालना चाहते हैं। ये विशेषताएँ रहस्यवाद के विषय में अत्यधिक विवेचना कर यह बतला सकती हैं कि अमुक रहस्यवादी अपनी कल्पना के ज्ञान में कहाँ तक ऊँचा उठ सका है। इन्हीं विशेषताओं का स्पष्टीकरण हम इस प्रकार करेंगे।

रहस्यवाद की विशेषताएँ

रहस्यवाद की पहली विशेषता यह है कि उसमें प्रेम की धारा अबाध रूप से बहनी चाहिए। रहस्यवादी अपनी अनुभूति में वह तत्व पा जावे जिससे उसके सांसारिक जीवन से अलौकिक जीवन का सामंजस्य हो। प्रेम का मतलब हृदय की साधारण-सी भावुक स्थिति न समझी जाय वरन् वह अन्तरंग और सूक्ष्म प्रवृत्ति हो जिससे अंतर्जगत् अपने सभी अंगों का मेल बहिर्जगत् से कर सके। प्रेम हृदय की वह घनीभूत भावना हो जिससे जीवन का विकास सदैव उन्नति की ओर हो, चाहे वह प्रेम एक बुद्धिमान् के हृदय में निवास करे अथवा एक मूर्ख के हृदय में। किन्तु दोनों स्थानों में स्थित उस प्रेम की शक्ति में कोई अंतर न हो। प्रेम का संबन्ध ज्ञान से नहीं। वह हृदय की वस्तु है, मस्तिष्क की नहीं। अतएव एक साधारण से साधारण आदमी उत्कृष्ट प्रेम कर सकता है और एक विद्वान् प्रेम की परिभाषा से भी अनभिज्ञ रह सकता है। इसलिए प्रेम का स्थान ज्ञान से बहुत ऊँचा है। रहस्यवाद में उतनी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है जितनी प्रेम की। अतः कहा गया है कि ईश्वर ज्ञान से नहीं जाना जा सकता, प्रेम से वश में किया जा सकता है। जब तक रहस्यवादी के हृदय में प्रेम नहीं है तब तक वह अनंत शक्ति की ओर एकाग्र भी नहीं हो सकता। वह उड़ते हुए बादल की भाँति कभी यहाँ भटकेगा, कभो वहाँ। उसमें स्थिरता नहीं आ सकती। इसलिए ऐसे प्रेम की उत्पत्ति होनी चाहिए जिसमें बंधन नहीं, बाधा नहीं, जो कलुषित और बनावटी नहीं। उस प्रेम के आगे फिर किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है :—

> **गुरु प्रेम का अंक पढ़ाय दिया,**
> **अब पढ़ने को कछु नाँहि बाकी। —कबीर**

इस प्रेम के सहारे रहस्यवादी ईश्वर की अभिव्यक्ति पाते हैं। जब ऐसा प्रेम होता है तभी रहस्यवादी मतवाला हो जाता है। कबीर कहते हैं :—

आठहूँ पहर मतवाल लागी रहै,
अठहूँ पहर की छाक पीवै,
आठहूँ पहर मस्तान माता रहै,
ब्रह्म की छौल में साध जीवै,
साँच ही कहतु और साँच हि गहतु है,
काँच को त्याग करि साँच लागा,
कहै कब्बीर यों साध निर्भय हुआ,
जनम और मरन का भर्म भागा।

और उस समय उस प्रेम में कौन-कौन से दृश्य दिखलाई पड़ते हैं ?

गगन की गुफा तहाँ गैब का चांदना
उदय और अस्त का नाव नाहीं।
दिवस और रैन तहाँ नेक नहिं पाइए,
प्रेम और परकास सिंध माही ॥
सदा आनंद दुख दंदु व्यापै नाहीं,
पूरनानंद भरपूर देखा,
भर्म और भ्रान्ति तहाँ नेक आवै नहीं,
कहै कबीर रस एक पेखा ॥

प्रेम के इस महत्व की उपेक्षा कौन कर सकता है! इसीलिए तो रहस्यवाद के इस प्रेम को अबुल अल्लाह ने इस प्रकार कहा है :—

[1]चर्च, मन्दिर या काबा का पत्थर, कुरान, बाइबिल या शहीद की अस्थियाँ, ये सब और इनसे भी अधिक (वस्तुएँ) मेरे हृदय को सह्य हैं क्योंकि मेरा धर्म केवल प्रेम है ।

---

१. A church, a temple, or a Kaba stone,
Kuran or Bible or Martyr's bone
All these and more my heart can tolerate
Since my religion is Love alone.

प्रोफ़ेसर इनायतख़ाँ रचित 'सूफ़ी मैसेज' पुस्तक का एक अवतरण लेकर हम इसे और भी स्पष्ट करना चाहते हैं :

सूफ़ी अपने सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिये प्रेम और भक्ति का मार्ग ग्रहण करते हैं क्योंकि वह प्रेम-भावना ही है जो मनुष्य को एक जगत् से भिन्न जगत् में लाई है और यही वह शक्ति है जो फिर उसे भिन्न जगत् से एक जगत् में ले जा सकती है।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम का किसी स्वार्थ से रहित होना अधिक आवश्यक है, अन्यथा प्रेम का महत्व कम हो जाता है। अतएव रहस्यवादी में निस्वार्थ प्रेम का होना अत्यन्त आवश्यक है।

रहस्यवाद की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें आध्यात्मिक तत्व हो। संसार की नीरस वस्तुओं से बहुत दूर एक ऐसे वातावरण में रहस्यवाद रूप ग्रहण करता है, जिसमें सदैव नई नई उमंगों की सृष्टि होती है। उस दिव्य वातावरण में कोई भी वस्तु पुरानी नहीं दीखती। रहस्यवादी के शरीर में प्रत्येक समय ऐसी स्फूर्ति रहती है जिससे वह अनंत शक्ति की अनुभूति में मग्न रहता है और सांसारिकता से बहुत दूर किसी ऐसे स्थान में निवास करता है जहाँ न तो मृत्यु का भय है, न रोगों का अस्तित्व है और न शोक का ही प्रसार है। उस दिव्य मिठास में सभी वस्तुएँ एक-रस मालूम पड़ती हैं और कवि अपने में उस स्फूर्ति का अनुभव करता है जिससे ईश्वरी संबंध की अभिव्यक्ति होती रहती है। उस आध्यात्मिक

---

१. Sufis take the course of love and devotion to accomplish their highest aim because it is love which has brought man from the world of Unity to the world of Variety and the same force again can take him to the world of Unity from that of Variety.

—Sufi Message

दशा में रहस्यवादी अपने को ईश्वर से मिला देता है और उस अलौकिक आनंद में मस्त हो जाता है जिसमें संसार के सूखेपन का पता ही नहीं लगता। उस आध्यात्मिक तत्व में अनंत से मिलाप की प्रधानता रहती है। आत्मा और परमात्मा दोनों की अभिन्नता स्पष्ट प्रकट होती है। प्रसिद्ध फ़ारसी कवि जामी ने उसी आध्यात्मिक तत्व में अपना काव्य-कौशल दिखलाया है।

अल-हल्लाज मंसूर की भावना भी इसी प्रकार है :—

तेरी आत्मा मेरी आत्मा से मिल गई है जैसे स्वच्छ जल से शराब। जब कोई वस्तु तुझे स्पर्श करती है तो मानों वह मुझे स्पर्श करती है। देख न, सभी प्रकार से तू 'मैं' है।[1]

कबीर ने निम्नलिखित पद में इसी आध्यात्मिक तत्व का कितना सुन्दर विवेचन किया है :—

योगिया की नगरी बसै मत कोई
जो रे बसै सो योगिया होई;
वही योगिया के उलटा ज्ञाना
कारा चोला नाहीं माना;
प्रकट सो कंथा गुप्ता धारी
तामें मूल संजीवनी भारी;
वा योगिया की युक्ति जो बूझै
नाम रमै सो त्रिभुवन सूझै;
अमृत बेली छन छन पीवे
कहै कबीर सो युग युग जीवे।

---

१. Thy Spirit is mingled in my spirit even as wine is mingled with pure water. When any thing touches Thee, it touches me. Lo, in every case Thou art I.

दि आइडिया अव् पर्सोनेलिटी इन सूफ़ीज़म, पृष्ठ ३०

रहस्यवाद की तीसरी विशेषता यह है कि वह सदैव वर्तमान रहे, कभी लुप्त न हो। उसमें सदैव ऐसी शक्ति रहे जिससे रहस्यवादी को दिव्य और अलौकिक झाँकी दीखती रहे। यदि रहस्यवादी की शक्ति अपूर्ण रही तो रहस्यवादी अपने ऊँचे आसन से गिर कर यहाँ-वहाँ भटकने लगता है और ईश्वर की अनुभूति को स्वप्न के समान समझने लगता है। रहस्यवाद तो ऐसा हो कि एक बार ही रहस्यवादी यह शक्ति प्राप्त कर ले कि वह निरंतर ईश्वर में लीन रहने लगे। जब उसमें एक बार यह क्षमता आ गई कि वह ईश्वरीय विभूतियों को स्पर्श कर अपने में संबद्ध कर ले तब यह क्यों होना चाहिये कि कभी-कभी वह उन शक्तियों से हीन रहे ? सूफ़ी संत सोचते हैं कि रहस्यवादी की यह दिव्य परिस्थिति सदैव नहीं रहती। उसे ईश्वर की अनुभूति तभी होती है जब उसे 'हाल' आते हैं। जीवन के अन्य समय में वह साधारण मनुष्य रहता है। मैं इससे सहमत नहीं हूँ। जब रहस्यवादी एक बार दिव्य संसार में प्रवेश कर पाता है, जब वह अपने प्रेम के कारण अनंत शक्ति से मिलाप कर लेता है, उसकी सारी बातें जान जाता है तब फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि वह कभी-कभी उस दिव्य लोक से निकाल दिया जाय, अथवा दिव्य सौंदर्य का अवलोकन रोकने के लिए उसके आँखों पर पट्टी बाँध दी जाय ? रहस्यवादी को जहाँ एक बार दिव्य लोक में स्थान प्राप्त हुआ कि वह सदैव के लिए अपने को ईश्वर में मिला लेता है और कभी उससे अलग होने की कल्पना तक नहीं करता।

रहस्यवाद की चौथी विशेषता यह है कि अनंत की ओर केवल भावना ही की प्रगति न हो वरन् संपूर्ण हृदय की आकांक्षा उस ओर आकृष्ट हो जाय। यदि केवल भावना ही ऊपर उठी और हृदय अन्य बातों में संलग्न रहा तो रहस्यवाद की कोई विशेषता ही नहीं रहेगी। अंडरहिल रचित मिस्टिसिज़्म में इसी विषय पर एक बड़ा सुन्दर अवतरण है।

मेगडेबर्ग की मेक्थिल्ड को एक दर्शन हुआ। उसका वर्णन इस

प्रकार है :—

आत्मा ने अपनी भावना से कहा :—

"शीघ्र ही जाओ, और देखो कि मेरे प्रियतम कहाँ हैं ! उनसे जाकर कहो कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ।"

भावना चली, क्योंकि वह स्वभावतः ही शीघ्रगामिनी है और स्वर्ग में पहुँचकर बोली :—

"प्रभो, द्वार खोलिए, और मुझे भीतर आने दीजिये।" उस स्वर्ग के स्वामी ने कहा, "इस उत्सुकता का क्या तात्पर्य है !" भावना ने उत्तर दिया, "भगवन्, मैं आपसे यह कहना चाहती हूँ कि मेरी स्वामिनी अब अधिक देर तक जीवित नहीं रह सकतीं। यदि आप इसी समय उसके पास चले चलेंगे तब शायद वह जी जाय। अन्यथा वह मछली, जो सूखे तट पर छोड़ दी जावे, कितनी देर तक जीवित रह सकती है ?"

ईश्वर ने कहा, "लौट जाओ। मैं तुम्हें तब तक भीतर न आने दूँगा जब तक कि तुम मेरे सामने वह भूखी आत्मा न लाओगी, क्योंकि उसी की उपस्थिति में मुझे आनंद मिलता है।"

इस अवतरण का मतलब यही है कि अनंत का ध्यान केवल भावना से ही न हो वरन् आत्मा की सारी शक्तियों एवं आत्मा से ही हो।

आत्मा और परमात्मा के मिलन में माया का आवरण ही बाधक है। इसलिये कबीर ने माया पर भी बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने 'रमैनी' और 'शब्द' में माया का इतना वीभत्स और भीषण चित्र खींचा है जो दृष्टि के सामने आते ही हृदय को आक्रोशपूर्ण भावनाओं से भर देता है। ज्ञात होता है, कबीर माया को उस हीन दृष्टि से देखते थे जिससे एक साधु या महात्मा किसी वेश्या को देखता है। मानो कबीर माया का सर्वनाश करना चाहते थे। वास्तव में यही तो उनके रहस्यवाद में, आत्मा और परमात्मा की संधि में बाधा डालने वाली सत्ता थी। उन्होंने देखा संसार सत्पुरुष की आराधना के लिए है। जिस निरंजन ने एक बार विश्व का सृजन कर दिया वह मानो इसलिये कि उसने सत्पुरुष

की उपासना की सृष्टि की। परंतु माया ने उस पर पाप का परदा डाल दिया है। कितना सुन्दर संसार है, उसमें कितनी ही सुंदर वस्तुएँ हैं! वह संसार सुनहला है, उसमें मधुर सुगंधि है। सुंदर अमराई है, उसमें सुन्दर बौर फूला है। मनोहर इंद्र-धनुष है, उसमें न जाने कितने रंगों की छटा है। पर वह सुगंधि, वह बौर, वह रंग, माया के आतंक से कलुषित हैं। उस पुण्य के सुन्दर भांडार में पाप की वासनापूर्ण मदिरा है। उस सुनहले स्वप्न में भय और आशंका की वेदना है। ऐसा यह मायामय संसार है! पाप के वातावरण से हट कर संसार की सृष्टि होनी चाहिए। वासना के काले बादलों से अलग संसार का इंद्रधनुष जगमगावे। उस संसार में निवास हो पर उसमें आसक्ति न हो। संसार की विभूतियाँ जिनमें माया का अस्तित्व है, नेत्रों के सामने बिखरी रहें पर उनकी ओर आकर्षण न हो। संसार में मनुष्य रहे पर माया के कलुषित प्रभाव से सदैव दूर रहे।

अपनी 'रमैनी' और 'शब्द' में कबीर ने माया के संबंध में बड़े आक्रोश पूर्ण शब्द कहे हैं। मानों कोई संत किसी वेश्या को बड़े कड़े शब्दों में धिक्कार रहा है और वह चुपचाप सिर झुकाये सुन रही है। वाक्य-बाणों की बौछार इतनी तेज़ हो गई है कि कबीर को पद-पद पर उस तेज़ी को सम्हालना पड़ता है। वे एक पद कहकर शांत अथवा चुप नहीं रह सकते। वे बार-बार अनेक पदों में अपनी भर्त्सनापूर्ण भावना को जगा-जमा कर माया का तिरस्कार करते हैं। वे कभी उसका वासनापूर्ण चित्र अंकित करते हैं, कभी उसकी हँसी उड़ाते हैं, कभी उस पर व्यंग्य करते हैं, और कभी क्रोध से उसकी भीषण भर्त्सना करते हैं। इतने पर भी जब उनका मन नहीं मानता तो वे थक कर संतों को उपदेश देने लगते हैं। पर जो आग उनके मन में लगी हुई है वह रह-रह कर सुलग ही उठती है। अन्य बातों का वर्णन करते करते फिर उन्हें माया की याद आ जाती है, पुरानी छिपी हुई आग प्रचंड हो उठती है और कबीर भयानक स्वप्न देखने वाले की भाँति एक बार काँप कर क्रोध से न जाने

क्या कहने लग जाते हैं !

कबीर ने माया की उत्पत्ति की बड़ी गहन विवेचना की है, उतनी शायद किसी ने कभी नहीं की। बीजक के 'आदि मंगल' से यद्यपि वह विवेचना कुछ भिन्न है तथापि कबीरपंथियों में यही प्रचलित है :—

प्रारम्भ में एक ही शक्ति थी, सार-भूत एक ही आत्मा थी। उसमें न राग था न रोष, कोई विकार नहीं था। उस सार-भूत आत्मा का नाम था सत्पुरुष। उस सत्पुरुष के हृदय में श्रुति का संचार हुआ और धीरे-धीरे श्रुतियाँ सात हो गईं। साथ-ही-साथ इच्छा का आविर्भाव हुआ। उसी इच्छा से सत्पुरुष ने शून्य में एक विश्व की रचना की उस विश्व के नियन्त्रण के लिए उन्होंने छः ब्रह्माओं को उत्पन्न किया। उनके नाम थे :—

ओंकार

सहज

इच्छा

सोहम्

अचित् और

अक्षर

सत्पुरुष ने उन्हें ऐसी शक्ति प्रदान कर दी थी जिसके द्वारा वे अपने-अपने लोक में उत्पत्ति के साधन और संचालन की आयोजना कर सकें। पर सत्पुरुष को अपने काम में बड़ी निराशा मिली। कोई भी ब्रह्मा अपने लोक का संचालन सुचारु रूप से नहीं कर सका। सभी अपने कार्य में कुशलता न दिखला सके, अतएव सत्पुरुष ने एक युक्ति सोची।

चारों ओर प्रशांत सागर था। अनंत जल-राशि थी। एकांत में मौन होकर अक्षर बैठा था। सत्पुरुष ने उसकी आँखों में नींद का एक झोंका ला दिया। वह नींद में झूमने लगा। धीरे-धीरे वह शिशु के समान गहरी निद्रा में निमग्न हो गया। जब उसकी आँख खुली तो उसने देखा कि उस अनंत जल-राशि के ऊपर एक अंडा तैर रहा है।

वह बड़ी देर तक उसकी ओर देखता रहा; एकटक उस पर दृष्टि जमाये रहा। उस दृष्टि में बड़ी शक्ति थी। एक बड़ा भारी शब्द हुआ, वह अंडा फूट गया। उसमें से एक बड़ा भयानक पुरुष निकला, उसका नाम रक्खा गया, निरंजन। यद्यपि निरंजन उद्धत स्वभाव का था पर उसने सत्पुरुष की बड़ी भक्ति की। उस भक्ति के बल पर उसने सत्पुरुष से यह वरदान माँगा कि उसे तीनों लोकों का स्वामित्व प्राप्त हो।

इतना सब होने पर भी निरंजन मनुष्य की उत्पत्ति न कर सका। इससे उसे बड़ी निराशा हुई। उसने फिर सत्पुरुष की आराधना कर एक स्त्री की याचना की। सत्पुरुष ने यह याचना स्वीकार कर एक स्त्री की सृष्टि की। वह स्त्री सत्पुरुष पर ही मोहित हो गई और सदैव उसकी सेवा में रहने लगी। उससे बार-बार कहा गया कि वह निरंजन के समीप जाय पर फल इसके विपरीत रहा। वह निरंतर सत्पुरुष की ओर ही आकृष्ट थी। सत्पुरुष के अपरिमित प्रयत्नों के बाद उस स्त्री ने निरंजन के पास जाना स्वीकार किया। उससे कुछ समय के बाद तीन पुत्र उत्पन्न हुए :—

१. ब्रह्मा
२. विष्णु
३. महेश

पुत्रोत्पत्ति के बाद निरंजन अदृश्य हो गया, केवल स्त्री ही बची, उसका नाम था माया।

ब्रह्मा ने अपनी माँ से पूछा—

के तोर पुरुष का करि तुम नारी ?

कौन तुम्हारा पुरुष है, तुम किसकी स्त्री हो ?
इसका उत्तर माया ने इस प्रकार दिया—

हम तुम; तुम हम, और न कोई,
तुम मम पुरुष, हमहीं तोर जोई।

कितना अनुचित उत्तर था ! माँ अपने पुत्र, से कहती है, केवल हम ही तुम हैं और तुम ही हम, हम दोनों के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है। तुम्हीं मेरे पति हो और मैं ही तुम्हारी स्त्री हूँ।

इसी पद में कबीर ने संसार की माया का चित्र खींचा है। यही संसार का निष्कर्ष है और कबीर को इसी से घृणा है। माँ स्वयं अपके मुख से अपने पुत्र की स्त्री बनती है। इसीलिये कबीर अपनी पहली रमैनी में कहते हैं—

बाप पूत के एकै नारी, एकै माय बियाय।

मातृ-पद को सुशोभित करने वाली वही नारी दूसरी बार उसी पुरुष के उपभोग की सामग्री बनती है। यह है संसार का ओछा और वासना-पूर्ण कौतुक ! माता के पद को सुशोभित करने वाली स्त्री उसी पुरुष जाति की अंकशायिनी बनती है ! कितना कलुषित संबंध है। इसीलिए कबीर इस संसार से घृणा करते हैं। वे अपने छठे शब्द में कहते हैं :—

संतो, अचरज एक भो भारी

पुत्र धरल महतारी !

सत्पुरुष की वह उत्कृष्ट विभूति जो एक बार गौरवपूर्ण वैभव तथा संसार की सारी उज्ज्वल शक्तियों से विभूषित होकर माता बनने आई थी, दूसरे ही क्षण संसार की वासना की वस्तु बन जाती है ! संसार की यह वासनामयी प्रवृत्ति क्या घृणित नहीं है ? कबीर को यही संसार का व्यापार घृणापूर्ण दीख पड़ता था।

माया के इस घृणित उत्तर से ब्रह्मा को विश्वास नहीं हुआ। वह निरंजन की खोज में चल पड़ा। माया ने एक पुत्री का निर्माण कर उसे ब्रह्मा के लौटाने के लिए भेजा पर ब्रह्मा ने यही उत्तर दिया कि मैंने अपने पिता को खोज लिया है, और उनके दर्शन पा लिए हैं। उन्होंने यही कहलाया है कि तुमने (माया ने) जो कुछ कहा है वह असत्य है, और इस असत्य के दण्ड-स्वरूप तुम कभी स्थिर न रह सकोगी।

इसके पश्चात् ब्रह्मा ने सृष्टि-रचना की जिसमें चार प्रकार के जीवों

की उत्पत्ति हुई ।

१ अंडज
२ पिंडज
३ स्वेदज
४ उद्भिज

सारी सृष्टि ब्रह्मा, विष्णु और महेश का पूजन करने लगी और माया का तिरस्कार होने लगा। माया इसे सहन न कर सकी। जब उसने देखा कि मेरे पुत्र मेरा तिरस्कार कर रहे हैं तो उसने तीन पुत्रियों को उत्पन्न किया जिनसे ३६ रागिनियाँ और ६३ स्वर निकल कर संसार को मोह में आबद्ध करने लगे। सारा संसार माया के सागर में तैरने लगा और सभी ओर पाखंड का प्रभुत्व दीखने लगा। सन्त लोग इसे सहन न कर सके और उन्होंने सत्पुरुष से इस कष्ट का निवारण करने की याचना की। सत्पुरुष ने इस अवसर पर एक व्यक्ति को भेजा जो संसार को माया-जाल से हटा कर सत्पुरुष की ओर ही आकर्षित करे। इस व्यक्ति का नाम था : कबीर।

विश्व-निर्माण के विषय में इसी धारणा को कबीर-पंथी मानते हैं।[1] कबीर स्वयं इसे स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि वे सत्पुरुष द्वारा भेजे गए हैं और सत्पुरुष ने अपने सारे गुणों को कबीर में स्थापित कर दिया है। इसके अनुसार कबीर अपने और सत्पुरुष में भेद नहीं मानते, कबीर के रहस्यवाद की विवेचना में हम इस विषय का निरूपण कर ही आये हैं।

'रमैनी' और 'शब्दों' को आद्योपांत पढ़ जाने के बाद हम ठीक विवेचन कर सकते हैं कि कबीर माया का किस प्रकार बहिष्कार या तिरस्कार करते हैं।

---

१. बामा खेड़ा (छत्तीसगढ़) मठ में प्रचलित।

शंकर और कबीर के मायावाद में सब से बड़ा अंतर यही है कि शंकर की माया केवल भ्रम-मूलक है। उससे रस्सी में साँप का या सीप में रजत का या मृगजल में जल का भ्रम हो सकता है। यह नाम रूपात्मक संसार असत्य होकर भी सत्य के समान भासित होता है किन्तु कबीर ने इस भ्रम की भावना के अतिरिक्त माया को एक चंचल और छद्मवेषी कामिनी का रूप दिया है जो संसार को अपनी ओर आकृष्ट कर वासना के मार्ग पर ले जाती है। माया एक विलासिनी स्त्री है। इसीलिए कबीर ने कनक और कामिनी को माया का प्रतीक माना है। इस माया का अपार प्रभुत्व है। वह तीनों लोकों को लूट चुकी है :—

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।

प्रकरण ८

आध्यात्मिक विवाह

आत्मा से परमात्मा का जो मिलाप होता है उसका मूल कारण प्रेम है। बिना प्रेम के आत्मा परमात्मा से न तो मिलने ही पाती है और न मिलने की इच्छा ही रख सकती है। उपासना से तो श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है, आराध्य के प्रति भय और आदर होता है पर भक्ति या प्रेम से हृदय में सम्मिलन की आकांक्षा उत्पन्न होती है। जब सूफ़ीमत में प्रेम का प्रधान महत्व है—रहस्यवाद में प्रेम का आदि स्थान है—तो आत्मा में परमात्मा से मिलने की इच्छा क्यों न उत्पन्न हो ? प्रेम ही तो दोनों के मिलन का कारण है।

प्रेम का आदर्श किस परिस्थिति में पूर्ण होता है ? माता-पुत्र, पिता-पुत्र, मित्र-मित्र के व्यवहार में नहीं। उसका एक कारण है। इन सम्बन्धों में स्नेह की प्रधानता होती है। सरलता, दया, सहानुभूति ये सब स्नेह के स्तम्भ हैं। इससे हृदय की भावनाएँ एक शांत वातावरण ही में विकसित होती हैं। जीवों के प्रति साधु और सन्तों के कोमल हृदय का बिंब ही स्नेह का पूर्ण चित्र है। उसमें इन्द्रियाँ स्वस्थ होकर शांति और सरलता से पुष्ट होती हैं। प्रेम स्नेह से कुछ भिन्न है। प्रेम में एक प्रकार की मादकता होती है। उससे उत्तेजना आती है। इन्द्रियाँ मतवाली होकर आराध्य को खोजने लगती हैं। शांति के बदले एक प्रकार की विह्वलता आ जाती है। हृदय में एक प्रकार की हलचल मच जाती है। संयोग में भी अशांति रहती है। मन में आकर्षण, मादकता अनुराग की प्रवृत्तियाँ और अन्तरप्रवृत्तियाँ एक बार ही जागृत हो जाती हैं। इस प्रकार के प्रेम की पूर्णता एक ही सम्बन्ध में है और वह सम्बन्ध है पति-पत्नी का। रहस्यवाद या सूफ़ीमत में आत्मा और परमात्मा के प्रेम की पूर्णता ही प्रधान है; अतएव उसकी पूर्ति तभी हो सकती है जब आत्मा और

परमात्मा में पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित हो जाय। कबीर ने लिखा ही है :—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥

उस संबंध में प्रेम की महान् शक्ति छिपी रहती है। इसी प्रेम के सहारे आत्मा में परमात्मा से मिलने की क्षमता आती है। इस प्रेम में न तो वासना का विस्तार ही रहता है और न सांसारिक सुखों की तृप्ति ही। इसमें तो सारी इन्द्रियाँ आकर्षण, मादकता और अनुराग की प्रवृत्तियाँ और अन्तरप्रवृत्तियाँ लेकर स्वाभाविक रूप से परमात्मा की ओर वैसे ही अग्रसर होती हैं जैसे नीची ज़मीन पर पानी। अतएव ऐसे प्रेम की पूर्ति तभी हो सकती है जब आत्मा और परमात्मा में पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित हो जाय। बिना यह सम्बन्ध स्थापित हुए, पवित्र प्रेम में पूर्णता नहीं आ सकती। हृदय के स्पष्ट भावों की स्वतन्त्र व्यञ्जना हुए बिना प्रेम की अभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती। एक प्राण में दूसरे प्राण के घुल जाने की बांछा हुए बिना प्रेम में पूर्णता नहीं आ सकती। एक भावना का दूसरी भावना में निहित हुए बिना प्रेम की मादकता नहीं आती। अपनी आकांक्षाएँ, आशाएँ, इच्छाएँ, अभिलाषाएँ और सब कुछ आराध्य के चरणों में समर्पित कर देने की भावना आये बिना प्रेम में सहृदयता नहीं आती। प्रेम की सारी व्यञ्जनाएँ, और व्याख्याएँ एक पति-पत्नी के सम्बन्ध में ही निहित हैं। इसलिए प्रेम की इस स्वतन्त्र व्यञ्जना को प्रकाशित करने के लिए बड़े-बड़े रहस्यवादियों ने—ऊँचे-ऊँचे सूफ़ियों ने आत्मा और परमात्मा को पति-पत्नी के सम्बन्ध में संसार के सामने रख दिया है। रहस्यवाद के इसी प्रेम में आत्मा स्त्री बनकर परमात्मा के लिए तड़पती है, सूफ़ीमत के इसी प्रेम में जीवात्मा पुरुष बनकर परमात्मा रूपी स्त्री के लिए तड़पता है। इसी प्रेम के संयोग में रहस्यवाद और सूफ़ीमत की पूर्णता है। प्रेम के इस संयोग ही को आध्यात्मिक विवाह कहते हैं।

कबीर ने अपने रहस्यवाद में आत्मा को स्त्री मान कर पुरुष-रूप परमात्मा के प्रति उत्कृष्ट प्रेम का निरूपण किया है। इस प्रेम के संयोग में जब तक पूर्णता नहीं रहती तब तक आत्मा विरहिणी बन कर परमात्मा के विरह में तड़पती है। इस विरह में वासना का चित्र होते हुए भी प्रेम की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति रहती है। वासना केवल प्रेम का स्थूल रूप है जो नेत्रों के सामने नग्न रूप में आ जाता है पर यदि उस वासना में पवित्रता की सृष्टि हुई तो प्रेम का महत्व और भी बढ़ जाता है। रहस्यवाद की इस वासना में सांसारिकता की बू नहीं उसमें आध्यात्मिकता की सुगंध है। इसलिए विरह की इस वासना का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। कबीर ने विरह का वर्णन जिस विदग्धता के साथ किया है उससे यही ज्ञात होता है कि कबीर की आत्मा ने स्वयं ऐसी विरहिणी का वेष रख लिया होगा जिसे बिना प्रियतम के दर्शन के एक क्षण भर भी शांति न मिलती होगी। जिस प्रकार विरहिणी के हृदय में एक कल्पना करुणा के सौ-सौ वेष बना कर आँसू बहाया करती है, उसी प्रकार कबीर के मन का एक-एक भाव न जाने करुणा के कितने रूप रखकर प्रकट हुआ है। विरहिणी प्रतीक्षा करती है, प्रिय की बातें सोचती है, गुण-वर्णन करती है, विलाप करती है, आशा रख कर अपने मन को संतोष देती है। याचना करती है। कबीर की आत्मा ऐसी विरहिणी से कम नहीं है। वह परमात्मा को याद सौ प्रकार से करती है उसके विरह में तड़पती है, अपनी करुणा-जनक अवस्था पर स्वयं विचार करती है और हजारों आकांक्षाओं का भार लेकर, उत्सुकता और अभिलाषाओं का समूह लेकर, याचना की तीव्र भावना एक साथ ही प्राणों से निकाल कर कह उठती है :—

> नैनां नीझर लाइया, रहट बसै निस जाम।
> पपिहा ज्यूं पिव पिव करौं, कब रे मिलहुगे राम॥

कितनी करुण याचना है! करुणा में घुल कर भिक्षुक प्राणों का

कितना विह्वल स्पष्टीकरण है ! यह आत्मा का विरह है जिसमें वह रो-रो कर कहती है :—

बाल्हा, आव हमारे गेह रे,
तुम बिन दुखिया देह रे।
सबको कहैं तुम्हारी नारी मोको इहै अवेह रे,
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे।
अंन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यूं कामी को काम पियारा, ज्यूं प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपकारी, हरि से कहै सुनाइ रे,
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जिव जाइ रे।

इस शब्द में यद्यपि सांसारिकता का वर्णन आ गया है तथापि आध्यात्मिक विरह को ध्यान में रख कर पढ़ने से सारा अर्थ स्पष्ट हो जाता है और आत्मा और परमात्मा के मिलन की आकांक्षा ज्ञात हो जाती है। ऐसे पदों में यही बात तो विचारणीय है कि सांसारिकता को साथ लिए भी आत्मा का विरह कितने उत्कृष्ट रूप से निभाया जा सकता है। विरह की इस आँच से आत्मा पवित्र होती है और फिर परमात्मा से मिलने के योग्य बन सकती है। इस विरह से आत्मा का अस्तित्व और भी स्पष्ट होकर परमात्मा से मिलने के योग्य बन जाता है। अंडरहिल ने लिखा है।—

[१]"रहस्यवादी बार-बार हमें यही विश्वास दिलाते हैं कि इससे व्यक्तित्व खोता नहीं वरन् अधिक सत्य बनता है।"

शमसी तबरीज़ ने परमात्मा को पत्नी मान कर अपनी विरह-व्यथा इस प्रकार सुनाई है :—

---

१. Over and over again they assure us that personality is not lost but made more real.

अंडरहिल रचित मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ५०३

[1]इस पानी और मिट्टी के मकान में तेरे बिना यह हृदय खराब है। या तो मकान के अन्दर आ जा, ऐ मेरी जाँ, या इस मकान को छोड़ देता हूँ।

कबीर ने भी यही विचार इस प्रकार कहा है :—

कहैं कबीर हरि दरस दिखाओ।
हमहिं बुलावो कि तुम चल आओ।

इस प्रकार इस विरह में जब आत्मा अपने विकारों को नष्ट कर लेती है, अपने आँसुओं से अपने सब दोषों को धो लेती है, अपनी आहों से सारे दुर्गुणों को जला लेती है, तब कहीं वह इस योग्य बनती है कि परमात्मा के द्वार पर पहुँच कर उसके दर्शन करे और अन्त में उससे संबंध हो जाय।

परमात्मा से शराब पानी की तरह मिलने के पहले आत्मा का जो परमात्मा से सामीप्य होता है उसे ही आध्यात्मिक भाषा में 'विवाह' कहते हैं। इस स्थिति में आत्मा अपनी सारी शक्तियों को परमात्मा में समर्पित कर देती हैं। आत्मा की सारी भावनाएँ परमात्मा की विभूतियों में लीन हो जाती हैं और आत्मा परमात्मा की आज्ञाकारिणी उसी प्रकार बन जाती है जिस प्रकार पत्नी पति की। अनेक दिनों की तपस्या के बाद, अनेक कष्ट उठाने के बाद, आशाओं और इच्छाओं की वेदना

---

१. दर खानाए आबो गिल
बे तुस्त खराब ई दिल
या खाना दर आ ए जाँ
या खाना बिपरदाज़म्
—दीवाने शमसी तबरीज़

भी सह लेने के बाद जब आत्मा को परमात्मा की अनुभूति होने लगती है तो वह उमंग में कह उठती है :—

बहुत दिनन थें मैं प्रीतम पाये,
भाग बड़े घर बैठे आये।
मंगलचार माँहि मन राखौं,
राम रसाँइरण रसना चाखौं।
मन्दिर माँहि भया उजियारा,
मैं सूती अपना पीव पियारा।
मैं 'रे निरासी जे निधि पाई,
हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई।
कहै कबीर, मैं कछू न कीन्हा,
सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा।

ऐसी अवस्था में आत्मा आनन्द से पूर्ण होकर ईश्वर का गान गाने लगती है। उसे परमात्मा की उत्कृष्टता ज्ञात हो जाती है, अपनी उत्सुकता की थाह मिल जाती है। उस उत्सुकता में उसका सारा जीवन एक चक्र की भाँति घूमता रहता है। आत्मा अपने आनन्द में विभोर होकर परमात्मा की दिव्य शक्तियों का तीव्र अनुभव करने लगती है। उसकी उस दशा में आनन्द और उल्लास की एक मतवाली धार बहने लगती है। उसके जीवन में उत्साह और हर्ष के सिवाय कुछ नहीं रह जाता। माधुर्य में ही उसकी सारी प्रवृत्तियाँ वेगवती वारि-धारा के समान प्रवाहित हो जाती है, माधुर्य में ही उसके जीवन का तत्त्व मिल जाता है माधुर्य में ही वह अपने अस्तित्व को खो देती है।

यही आध्यात्मिक विवाह का उल्लास है!

●

प्रकरण ६

आनंद

जब आत्मा परमात्मा की विभूतियों का अनुभव करने को अग्रसर होती है तो उसमें कितनी उत्सुकता और कितनी उमंग रहती है! उस उत्सुकता और उमंग में उसकी सारी भावनाएँ जाग उठती हैं और वे ईश्वरीय अनुभूति के लिए व्यग्र हो जाती हैं, जब आत्मा अपने विकास के पथ पर परमात्मा की दिव्य शक्तियों को देखती है तो उसे एक प्रकार के अलौकिक आनंद का प्रवाह संसार से विमुख कर देता है। इसीलिए तो परमात्मा की दिव्य शक्तियों को पहिचानने वाले रहस्यवादी संसार के बाह्य चित्र को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं :—

> रे यामें क्या मेरा क्या तेरा,
>
> लाज न मरहि कहत घर मेरा।
>
> (कबीर)

वे जब एक बार परमात्मा के अलौकिक सौंदर्य को अपनी दिव्य आँखों से देख लेते हैं तब उनके हृदय में संसार के लिए कोई आकर्षण नहीं रह जाता। संसार की सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु उन्हें मोहित नहीं कर सकती। वे उसे माया का जंजाल समझते हैं। आत्मा को मोह में भुलाने का इंद्र-धनुष जानते हैं और ईश्वर से दूर हटाने का कुत्सित और कलुषित मार्ग। दूसरी बात यह भी है कि परमात्मा की विभूतियाँ उनको अपने सौंदर्य-पाश में इस प्रकार बाँध लेती हैं कि फिर उन्हें किसी दूसरी ओर देखने का अवसर ही नहीं मिलता अथवा वे दूसरी ओर देखना ही नहीं चाहते। उनके हृदय में आनंद की वह रागिनी बजती है जिसके सामने संसार के आकर्षक से आकर्षक स्वर नीरस जान पड़ने लगते हैं। ये ईश्वरीय अनुभूति के लिए तो सजीव हो जाते हैं पर संसार के लिए निर्जीव। वे ईश्वर के ध्यान में इतने मस्त हो जाते हैं कि फिर उन्हें संसार का ध्यान कभी अपनी ओर

खींचता ही नहीं। वे ईश्वर का अस्तित्व ही खोजते हैं—अपने शरीर में बाह्य संसार में नहीं क्योंकि उससे तो वे विरक्त हो चुके हैं। यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखना आवश्यक है। यद्यपि यह ईश्वर की अनुरक्ति आत्मा को परमात्मा के बहुत निकट ला देती है तथापि आत्मा की संकुचित सीमा में परमात्मा का व्यापक रूप स्पष्ट न दीख पड़ने की भी तो संभावना है। बाह्य संसार में ईश्वर की विभूतियाँ जितनी स्पष्टता के साथ प्रकट हैं उतनी स्पष्टता के साथ, संभव है, आत्मा में प्रकट न हो सकें। विशेषकर ऐसी स्थिति में जब कि आत्मा अभी परमात्मा के मिलन-पथ पर ही है वह पूर्ण विकसित नहीं हुई हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा परमात्मा का उतना ही रूप ग्रहण कर सकती है जितना कि उसकी परिधि में आ सकता है। परमात्मा के गुणों का ग्रहण ऐसी अवस्था में कम और अधिक-से-अधिक भी हो सकता है। यह आत्मा के विकसित और अविकसित रूप पर निर्भर हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि परमात्मा के ध्यानोल्लास में मग्न आत्मा संसार का बहिष्कार केवल इसलिए न करे कि संसार में भी परमात्मा की शक्तियों का प्रकाशन है। संसार का सौंदर्य अनंत को देखने के लिये एक साधन-मात्र है। फ़ारसी के एक कवि ने लिखा है :—

हुस्न ख़ूबाँ बहरे हक़बीनी मिसाले ऐनकस्त,
　　मी देहद बीनाई अन्दर वोदगे नज्जारे मन।

कबीर ने बाह्य संसार से तो आँखें बन्द कर ली हैं :—

तिल तिल कर यह माया जोरी,
　　चलत बेर तिणां ज्यूं तोरी।
कहै कबीर तू ता कर वास,
　　माया माँहै रहै उदास॥

दूसरे स्थान पर वे कहते हैं :

किसकी ममां चचा पुनि किसका,
　　किसका पंगुड़ा जोई।

यहु संसार बजार मंड्या है,
जाने गाजन कोई ॥
मैं परदेशी काहि पुकारौं,
यहाँ नहीं को मेरा ॥
यहु संसार ढूँढ़ि जब देखा,
एक भरोसा तोरा ॥

इस प्रकार कबीर केवल परमात्मा की एकांत विभूतियों में रमना चाहते हैं। उन्हें परमात्मा ही में आनंद आता है, संसार में प्रदर्शित ईश्वर के रूप में नहीं।

परमात्मा के लिए आकांक्षा में एक प्रकार का अलौकिक आनंद है जिसमें प्रत्येक रहस्यवादी लीन रहता है। यह आनंद दो प्रकार से हो सकता है। शारीरिक आनंद और आध्यात्मिक आनंद। शारीरिक आनंद में शरीर की सारी शक्तियाँ ईश्वर की अनुभूति में प्रसन्न होती हैं, आनंद और उल्लास में लीन हो जाती हैं। आध्यात्मिक आनंद में शरीर की सारी शक्तियाँ लुप्त भी होने लगती हैं। शरीर मृत-प्राय-सा हो जाता है। चेतना शून्य होने लगती है, केवल हृदय की भावनाएँ अनंत शक्ति के आनंद से ओत-प्रोत हो जाती हैं। अंडरहिल ने अपनी पुस्तक 'मिस्टसिज्म' में इस आनंद की तीन स्थितियाँ मानी हैं। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। परन्तु मैं मानसिक स्थिति को शारीरिक स्थिति में ही मानता हूँ। उसका प्रधान कारण यही है कि बिना मानसिक आनंद के शारीरिक आनंद हो ही नहीं सकता। जब तक मन में ईश्वर की अनुभूति का आनंद न आयेगा तब तक शरीर पर उस आनंद के लक्षण क्या प्रकट हो सकेंगे! दूसरा कारण यह है कि आत्मा की जो दशा मानसिक आनंद में होगी वही शारीरिक आनंद में भी। ऐसी स्थिति में जब दोनों का रूप और प्रभाव एक ही है तो उन्हें भिन्न मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। अब हम दोनों स्थितियों पर स्वतंत्र रूप से प्रकाश डालेंगे।

पहले उस आनंद का रूप शारीरिक स्थिति में देखिए। जब आत्मा ने एक बार परमात्मा की अलौकिक शक्तियों से परिचय पा लिया तब उस परिचय की स्मृति में हृदय की सारी भावनाएँ आनंद में परिप्रोत हो जाती हैं। उनका असर प्रत्येक इंद्रिय पर पड़ने लगता है। उस समय रहस्यवादी अपने अंगों में एक प्रकार का अनोखा बल अनुभव करने लगता है। उसके प्रत्येक अवयव आनंद से चंचल हो उठते हैं। अंग प्रत्यंग थिरकने लगता है। उसकी विविध इंद्रियाँ आनंद से नाच उठती हैं! कबीर ने इसी शारीरिक आनंद का कितना सुन्दर वर्णन किया है :—

हरि के षारे बड़े पकाये, जिन जारे तिन पाये।
ग्यांन अचेत फिरै नर लोई,
ताथैं जनमि जनमि डहकाये।
घोल मंदलिया बैल रबाबी,
कऊआ ताल बजावै,
पहिर चोलनां गादह नाचै,
भैंसा निरति करावै।
स्यंघ बैठा पाँन कतरै,
घूँस गिलौरा लावै,
उदरी बपुरी मङ्गल गावै,
कछू एक आनंद सुनावै।
कहै कबीर सुनो रे संतो,
गडरी परवत खावा,
चकवा बैठि अंगारे निगालै,
समँद आकासाँ धावा।

कबीर भिन्न-भिन्न इंद्रियों के उल्लास का निरूपण भिन्न-भिन्न जानवरों के कार्य-व्यापारों में ही कर सके। ज्ञानेन्द्रियों अथवा कर्मेन्द्रियों का विलक्षण उल्लास संसार के रूपक में किस प्रकार वर्णन किया जा सकता था? शारीरिक आनंद की विचित्रता के लिए 'स्यंघ बैठा पान कतरै घूंस गिलौरा

लावै" के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता था! रहस्यवादी उस विलक्षणता को किस प्रकार प्रकट करता! सीधे-सादे शब्दों में उस विलक्षणता का प्रकाशन ही किस प्रकार हो सकता था? इंद्रियों के उस उल्लास को कबीर के इस पद में स्पष्ट प्रकाशन मिल गया है। यही शारीरिक आनंद का उदाहरण है।

अंडरहिल ने लिखा है कि शारीरिक उल्लास में एक मूर्छा-सी आ जाती है। हाथ पैर ठंडे और निर्जीव हो जाते हैं। किसी बात के ध्यान में आने से अथवा किसी वस्तु को देखने से परमात्मा की याद आ जाती है और वह याद इतनी मतवाली होती है कि रहस्यवादी को उसी समय मूर्छा आ जाती है। वह मूर्छा चाहे थोड़ी देर के लिए हो अथवा अधिक देर के लिए। मेरे विचार में मूर्छा का संबन्ध हृदय से है शरीर से नहीं। यदि हृदय स्वाभाविक गति में रहे और शरीर को मूर्छा आ जाय अथवा शरीर के अंग कार्य न कर सकें, वे शुन्य पड़ जायँ तो वह शारीरिक स्थिति कही जा सकती है। जहाँ आत्मा मूर्छित हुई, उसके साथ-ही-साथ स्वभावतः शरीर भी मूर्छित हो जायगा। शरीर तो आत्मा से परिचालित है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। जहाँ तक हृदय की मूर्छा से संबन्ध है, मैं उसे आध्यात्मिक स्थिति ही मान सकूँगा, शारीरिक नहीं। शारीरिक उल्लास के विवेचन में अंडरहिल ने एक उदाहरण भी दिया है।

जिनेवा की कैथराइन जब मूर्छितावस्था से उठी तो उसका मुख गुलाबी था, प्रफुल्लित था और ऐसा मालूम हुआ मानों उसने कहा, "ईश्वर के प्रेम से मुझे कौन दूर कर सकता है?"[1]

---

१. And when she came forth from her hiding place her face was rosy as it might be a cherib's and it seemed as if she might have said, "who shall separate me from the Love of God?"

अंडरहिल रचित मिस्टिसिज़्म, पृष्ठ ४३३

यदि शारीरिक उल्लास में हाथ-पैरों में रक्त का संचालन मन्द पड़ जाता है शरीर ठंडा और दृढ़ हो जाता है तो कैथराइन का गुलाबी मुख शारीरिक उल्लास का परिचायक नहीं था।

आध्यात्मिक आनंद में आत्मा इस संसार के जीवन में एक अलौकिक जीवन की सृष्टि कर लेती है। इस स्थिति में आत्मा केवल एक ही वस्तु पर केन्द्रीभूत हो जाती है और वह वस्तु होती है परमात्मा की प्रेम-विभूति।

राम रस पाइया रे तार्थे बिसरि गये रस और।

(कबीर)

उस समय बाह्येंद्रियों से आत्मा का संबन्ध नहीं रह जाता। आत्मा स्वतन्त्र होकर अपने प्रेममय दिव्य जीवन की सृष्टि कर लेती है। ऐसी स्थिति में आत्मा भावोन्माद में शरीर के साथ मूर्छित भी हो सकती है। उस समय न तो आत्मा ही संसार की कोई ध्वनि ग्रहण कर सकती है और न शरीर ही किसी कार्य का संपादन कर सकता है। आत्मा और शरीर की यह सम्मिलित मूर्छा रहस्यवादी की उत्कृष्ट सफलता है।

आत्मा की उस मूर्छा में पहले या बाद ईश्वरीय प्रेम का स्रोत आत्मा में इतने वेग से उमड़ता है कि उसके सामने संसार की कोई भी भावना नहीं ठहर सकती। उस समय आत्मा में ईश्वर का चित्र अन्तर्हित रहता है। उस अलौकिक प्रेम के प्रवाह में इतनी शक्ति होती है कि वह आत्मा के सामने अव्यक्त अलौकिक सत्ता का एक चित्र-सा खींच देती है। आत्मा में अन्तर्हित ईश्वरीय सत्ता स्पष्ट रूप से आत्मा के सामने आ जाती है।—उस भावोन्माद में इतना बल होता है कि आत्मा स्वयं अपने में ईश्वर को प्राप्त कर उसकी आराधना में लीन हो जाती है। कबीर इसी अवस्था को इस प्रकार लिखते हैं :—

जलि जाई थलि उपजी
आई नगर मैं आप,

एक अचंभा देखिए
बिटिया जायो बाप।

प्रेम की चरम सीमा में, आध्यात्मिक आनंद के प्रवाह में आत्मा जो परमात्मा से उत्पन्न है अपने में अंतर्हित परमात्मा का चित्र खींच लेती है मानों 'बिटिया' अपने बाप को उत्पन्न कर देती है। यही उस आध्यात्मिक आनंद के प्रवाह की उत्कृष्ट सीमा है। आत्मा उस समय अपना व्यक्तित्व ही दूसरा बना लेती है। आध्यात्मिक आनंद के तूफान में आत्मा उड़ कर अनन्त सत्य की गोद में जा गिरती है, जहाँ प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

प्रकरण १०

गुरु

गुरु प्रसाद अकल भई तोको नहि तर था बेगाना।

(कबीर)

रामानंद के पैरों से ठोकर खाकर उषा-बेला में कबीर ने जो गुरु-मंत्र सीखा था उसमें गुरु के प्रति कितनी श्रद्धा और भक्ति थी ! राम-मंत्र के साथ-साथ गुरु का स्थान कबीर के हृदय में बहुत ऊँचा था। उनके विचारानुसार गुरु तो ईश्वर से भी बड़ा है। बिना उनकी सहायता के आत्मा द्वारा परमात्मा की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। अतएव जो प्रेरणा परमात्मा से मिलन के लिए आवश्यक रूप से वर्तमान है, जो शक्ति अनन्त-संयोग के लिए नितांत आवश्यक है, उस शक्ति का कितना मूल्य है, यह शब्दों में कैसे बतलाया जा सकता है ? गुरु की कृपा ही आत्मा को परमात्मा से मिलने के रास्ते पर ले जाती है। अतएव गुरु जो आध्यात्मिक जीवन का पथ-प्रदर्शक है ईश्वर से भी अधिक आदरणीय है। इसीलिए तो कबीर के हृदय में शंका हो जाती है कि यदि गुरु और गोविंद दोनों खड़े हुए हैं तो पहले किसके चरण स्पर्श किए जायँ ? अन्त में गुरु ही के चरण छुए जाते हैं जिन्होंने स्वयं गोविंद को बतला दिया है।

कबीर ने तो सदैव गुरु के महत्त्व को तीव्र-से-तीव्र शब्दों में घोषित किया है। बिना गुरु के यदि कोई चाहे कि वह ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर ले तो वह कठिन ही नहीं वरन् असंभव है। "गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै" का सिद्धांत तो सदैव उनकी आँखों के सामने था। ऐसा गुरु है, जो परमात्मा का ज्ञान कराता है, कबीर के मतानुसार आध्यात्मिक जीवन के लिए गुरु की सहायता परमावश्यक है।

कबीर के विचारों में गुरु आत्मा और परमात्मा में मध्यस्थ है। वही दोनों का संयोग कराता है। संयोगावस्था में चाहे गुरु की आवश्यकता

न हो पर जब तक आत्मा और परमात्मा में संयोग नहीं हो पाता तब तक गुरु का सदैव साथ होना चाहिये, नहीं तो आत्मा न जाने रास्ता भूल कर कहाँ चली जाय !

कबीर ने अपने रेखतों में गुरु की प्रशंसा जी खोल कर की है :—

गुरुदेव बिन जीव की कल्पना ना मिटै
गुरुदेव बिन जीव का भला नाहीं,
गुरुदेव बिन जीव का तिमिर नासै नाहीं
समुझि विचार ले मनै माँहीं।
राह बारीक गुरुदेव तें पाइये
जनम अनेक की अटक खोलै,
कहै कब्बीर गुरुदेव पूरन मिलै
जीव और सीव तब एक तोलै ॥

करौ सतसंग गुरुदेव से चरन गहि
जासु के दरस तें भर्म भागै,
सील औ साँच संतोष आवै दया
काल की चोट फिर नाहि लागै।
काल के जाल में सकल जिव बंधिया
बिन ज्ञान गुरुदेव घट अंधियारा,
कहै कब्बीर जन जनम आवै नहीं
पारस परस पद होय न्यारा ॥

गुरुदेव के भेद को जीव जाने नहीं
जीव तो आपनी बुद्धि ठानै,
गुरुदेव तो जीव को काढ़ि भव-सिंधु तें
फेरि लै सुक्ख के सिंधु आनै।
भेद करि दृष्टि को फेरि अन्दर करै
घट का पाट गुरदेव खोलै,

कहत कब्बीर तू देख संसार में
गुरदेव समान कोई नाँहि तोलै ॥

सभी रहस्यवादियों ने आत्मा की प्रारंभिक यात्रा में गुरु की आवश्यकता मानी है। जलालुद्दीन रूमी ने अपनी मसनवी के भाग १ में पीर (गुरु) की प्रशंसा लिखी है :—

ओ सत्य के वैभव हुसामुद्दीन, काग़ज के कुछ पन्ने और ले और पीर के वर्णन में उन्हें कविता से जोड़ दे।

यद्यपि तेरे निर्बल शरीर में कुछ शक्ति नहीं है तथापि (तेरी शक्ति के) सूर्य बिना हमारे पास प्रकाश नहीं है।

पीर (पथ-प्रदर्शक) ग्रीष्म (के समान) है, और (अन्य) व्यक्ति शरत्काल (के समान) हैं। (अन्य) व्यक्ति रात्रि के समान हैं, और पीर चन्द्रमा है।

मैंने (अपनी) छोटी निधि (हुसामुद्दीन) को पीर (वृद्ध) का नाम दिया है। क्योंकि वह सत्य से वृद्ध (बनाया गया) है समय से वृद्ध नहीं (बनाया गया)।

वह इतना वृद्ध है कि उसका आदि नहीं है; ऐसे अनोखे मोती का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।

वस्तुतः पुरानी शराब अधिक शक्तिशालिनी है, निस्संदेह पुराना सोना अधिक मूल्यवान है।

पीर चुनों, क्योंकि बिना पीर के यह यात्रा बहुत ही कष्ट-मय, भयानक और विपत्ति-मय है।

बिना साथी के तुम सड़क पर भी उद्भ्रान्त हो जाओगे जिस पर तुम अनेक बार चल चुके हो।

जिस रास्ते को तुमने बिलकुल भी नहीं देखा उस पर अकेले मत चलो, अपने पथ-प्रदर्शक के पास से अपना सिर मत हटाओ।

मूर्ख, यदि उसकी छाया (रक्षा) तेरे ऊपर न हो तो शैतान की कर्कश ध्वनि तेरे सिर को चक्कर में डाल कर तुझे (यहाँ-वहाँ) घुमाती

रहेगी। शैतान तुझे रास्ते से बहका ले जायगा (और) तुझे 'नाश' में डाल देगा, इस रास्ते में तुझ से भी चालाक हो गये हैं (जो बुरी तरह से नष्ट किये गये हैं)।

सुन (सीख) कुरान से—यात्रियों का विनाश! नीच इबलिस ने उनसे क्या व्यवहार किया है!!

वह उन्हें रात्रि में अलग, बहुत दूर ले गया—सैकड़ों हज़ारों वर्षों की यात्रा में—उन्हें दुराचारी ने (अच्छे कार्यों से रहित) नग्न कर दिया।

उनकी हड्डियाँ देख—उनके बाल देख! शिक्षा ले, और उनकी ओर अपने गधे (इंद्रियों) को मत हाँक। अपने गधे की गर्दन पकड़ और उसे रास्ते की तरफ उनकी ओर ले जा जो रास्ते को जानते है और उस पर अधिकार रखते हैं।

खबरदार! अपना गधा मत जाने दे, और अपने हाथ उस पर से मत हटा, क्योंकि उसका प्रेम उस स्थान से है जहाँ हरी पत्तियाँ बहुत होती हैं।

यदि तू एक क्षण के लिए भी असावधानी से उसे छोड़ दे तो वह उस हरे मैदान की दिशा में अनेक मील चला जायगा। गधा रास्ते का शत्रु है, (वह) भोजन के प्रेम में पागल-सा है। ओः, बहुत से हैं जिनका उसने सर्वनाश किया है!

यदि तू रास्ता नहीं जानता, तो जो कुछ गधा चाहता है, उसके विरुद्ध कर। वह अवश्य ही सच्चा रास्ता होगा।

(पैग़म्बर ने कहा), उन (स्त्रियों) की संमति ले, और फिर (जो सलाह वे देती हैं) उसके विरुद्ध कर! जो उनकी अवज्ञा नहीं करता वह नष्ट हो जायगा।

(शारीरिक) वासनाओं और इच्छाओं का मित्र मत बन—क्योंकि वे ईश्वर के रास्ते से अलग ले जाती हैं।

× × ×

कबीर ने भी गुरु को सदैव अपना पथ-प्रदर्शक माना है। उन्होंने लिखा है:—

पासा पकड़्या प्रेम का,
　　सारी किया सरीर,
सतगुर दाँव बताइया,
　　खेलै दास कबीर।

मध्वाचार्य के द्वैतवाद में जिस प्रकार आत्मा और परमात्मा के बीच में 'वायु' का विशिष्ट स्थान है उसी प्रकार कबीर के ईश्वरवाद में गुरु का। कबीर ने जिस गुरु को ईश्वर का प्रतिनिधि माना है उसका परिचय क्या है ?

(क) ज्ञान उसका शब्द हो। लौकिक और व्यावहारिक ही नहीं, वरन् आध्यात्मिक भी। उसमें यह शक्ति हो कि वह पतित-से-पतित आत्मा में ज्ञान का संचार कर उसे सत्पथ की ओर अग्रसर करा दे। उसके हृदय में ज्ञान का प्रवाह इतना अधिक हो कि शिष्य उसमें बह जाय। उसके ज्ञान से आत्मा के हृदय का अंधकार दूर हो जाय और वह अपने चारों ओर की वस्तुएँ स्पष्ट रूप से देख ले। उसे मालूम हो जाय कि यह किस ओर जा रहा है—पाप और पुण्य किसे कहते हैं ? उन्नति और अवनति का क्या तात्पर्य है ? लौकिक में क्या अन्तर है ? आत्मा को प्रकाशित करने के क्या साधन हैं ?

पीछे लागा जाइ था,
　　लोक वेद के साथ।
आगे थैं सतगुर मिल्या,
　　दीपक दिया हाथ॥

....　　....　　....

माया दीपक नर पतँग,
　　भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत।

कहै कबीर गुरु ज्ञान थें,
एक आध उबरंत ॥

(ख) पथ-प्रदर्शन उसका कार्य हो। आध्यात्मिक ज्ञान के पथ पर जहाँ पग पग पर आत्मा को ठोकरें खानी पड़ती हों, जहाँ आत्मा रास्ता भूल जाती है, वहाँ सहारा देकर निर्दिष्ट मार्ग बतलाना तो गुरु ही का काम है। माया मोह की मृग-तृष्णा में, स्त्री के साथ शरीर की लालसा में; कपट और छल की क्षणिक आनंद-लिप्सा में आत्मा जब कभी निर्बल हो जाय तो उसमें ज्ञान का तेज डाल कर गुरु उसे पुनः उत्साहित करे। शिष्य के सामने वह स्पष्ट दिखला दे कि

काया कमंडल भरि लाया,
उज्ज्वल निर्मल नीर,
तन मन जोबन भरि पिया,
प्यास न मिटी सरीर।

ऐसा तेज भर दे जिससे केवल उसके हृदय में ही प्रकाश न हो वरन् चारों ओर उसके पथ पर भी प्रकाश की छटा जगमगा जाय। शिष्य में संसार की माया के प्रति अनुरक्ति न हो,

कबीर माया मोहनी,
सब जग घाल्या घाणि,
सतगुरु की किरपा भई,
नहीं तो करती भाँड़।

वह झूठा वेष न रखे,

बैसनों भया तो का भया,
बूझा नहीं विबेक,
छापा तिलक बनाइ करि,
बगधा लोक अनेक।

वह कुसंगति में न पड़े,

निरमल बूँद आकाश की
पड़ि गई भोमि विकार

वह निंदा न करे,

दोष पराये देख कर,
चला हसंत हसंत,
अपने च्यंत न आवई,
जिनका आदि न अंत।

यदि ऐसे दोष शिष्य में कभी आ भी जाँय तो गुरु में ऐसी शक्ति हो कि वह शिष्य को उचित मार्ग का निर्देश कर दे।

इसी कारण गुरु का महत्त्व ईश्वर के महत्त्व से भी कहीं बढ़ कर है। घेरण्ड संहिता के तृतीयोपदेश में गुरु के संबंध में कुछ श्लोक दिये गये हैं। वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनका अर्थ यही है कि केवल वही ज्ञान उपयोगी और शक्ति-संपन्न है जो गुरु ने अपने ओठों से दिया है; नहीं तो वह ज्ञान निरर्थक, अशक्त और दुःखदायक हो जाता है। 'इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि गुरु पिता है, गुरु माता है और यहाँ तक कि गुरु ईश्वर भी है! इसी कारण उसकी सेवा मनसा वाचा कर्मणा होनी चाहिए। गुरु की कृपा से सभी शुभ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। इसीलिए गुरु की सेवा नित्य ही होनी चाहिए, नहीं तो कोई कार्य मंगल-मय नहीं हो सकता।'[1]

ऐसे गुरु की ईश्वरानुभूति महान् शक्ति है। वह अपने शिष्य को उन 'शब्दों' का उपदेश दे, जिनसे वह परमात्मा के दैवी वातावरण में साँस

---

१. भवेद्वीर्यवती विद्या गुरु वक्त्र समुद्भवा
अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीयप्यिति दुःखदा—
[घेरंड संहिता, तृतीयोपदेश, श्लोक १० ॥
गुरु पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते ॥ ,, श्लोक १३ ॥
गुरुप्रसादतः सर्वंलभ्यते शुभमात्मनः
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत् ॥ ,, श्लोक १४ ॥

ले सके। उसके उपदेश बाण के समान आकर शिष्य के मोह-जाल को नष्ट कर दें और शिष्य अपनी अज्ञानता का अनुभव कर ईश्वर से मिलने की ओर अग्रसर हो। ईश्वर की अनुभूति प्राप्त कर जब गुरु शिष्य को ईश्वर के दिव्य प्रकाश से परिचित करा देता है, तब गुरु का कार्य समाप्त हो जाता है और आत्मा स्वयं परमात्मा की ओर बढ़ जाती है जहाँ किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती। गुरु से प्रोत्साहित होकर, गुरु से शक्तियाँ लेकर, आत्मा अपने को परमात्मा में मिला देती है, जहाँ वह आनंद पूर्वक संयोग में लीन हो जाती है। ऐसी अवस्था में भी गुरु आत्मा पर प्रकाश डालता रहता है जिस प्रकार नक्षत्र उषा की उज्ज्वल प्रकाश-रश्मियों के आने पर भी अपना झिलमिल प्रकाश फेंकते रहते हैं।

●

प्रकरण ११

हठयोग

कबीर के 'शब्दों' में हठयोग के भी कुछ सिद्धांत मिलते हैं। यद्यपि उन सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप कबीर की कविता में प्रस्फुटित नहीं हुआ तथापि उनका बाह्य रूप किसी-न-किसी ढंग से अवश्य प्रकट हो गया है। कबीर अपढ़ थे। अतएव उन्होंने हठयोग अथवा राजयोग के ग्रंथों को तो छुआ भी न होगा। योग का जो कुछ भी ज्ञान उन्हें सत्संग और रामानन्द आदि से प्रसाद-स्वरूप मिल गया होगा, उसी का प्रकाशन उन्होंने अपने बेढंगे पर सच्चे चित्रों में किया है। कबीर अपने समय के महात्मा थे। उनके पास अनेक प्रकार के मनुष्यों की भीड़ अवश्य लगी रहती होगी। ईश्वर, धर्म और वैराग्य के वातावरण में उनका योग के बाह्य रूप से परिचित होना असंभव नहीं था।

योग का शाब्दिक अर्थ जोड़ना (युज धातु) है। आत्मा जिस शारीरिक या मानसिक साधना से परमात्मा में जुड़ जावे, वही योग है। माया के प्रभाव से रहित होकर जब आत्मा सत्य का अनुभव कर समाधिस्थ हो परमात्मा के रूप में निमग्न हो जाती है, उसी समय योग सफल माना जाता है।

योग के अनेक प्रकार हैं :—

१ ज्ञानयोग

२ राजयोग

३ हठयोग

४ मंत्रयोग

५ कर्मयोग, आदि

आत्मा अनेक प्रकार से परमात्मा से संबद्ध हो सकती है। ज्ञान के विकास से जब आत्मा विवेक और वैराग्य में अपने अस्तित्व को भूल

जाती है और अस्तित्व के कण-कण में परमात्मा का अविनाशी रूप देखती है तब मुक्ति में दोनों का अविदित संमिलन हो जाता है (ज्ञानयोग)। आत्मा कार्यों का परिणाम सोचे बिना निष्काम भाव से कार्य कर परमात्मा में लीन हो जाती है (कर्मयोग)। आत्मा परमात्मा के नाम अथवा उससे संबंध रखने वाली किसी पंक्ति का उच्चारण करते-करते किसी कार्य-विशेष को करते हुए, ध्यान में मग्न हो उससे मिल जाती है (मंत्रयोग)। अपने अंगों और श्वास पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित संचालन करते हुए (हठयोग) एवं मन को एकाग्र कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप पर मनन करते हुए समाधिस्थ हो ईश्वर से मिल जाती है (राजयोग)। इस भाँति अनेक प्रकार से आत्मा परमात्मा में संबद्ध हो सकती है! हठयोग और राजयोग वस्तुतः एक ही साधना के अंग हैं। हृदय को संयत करने से पहले (राजयोग) अंगों को संयत करना आवश्यक है (हठयोग) बिना हठयोग के राजयोग नहीं हो सकता। अतएव हठयोग राजयोग की पहली सीढ़ी है—हठयोग और राजयोग दोनों मिल कर एक विशिष्ट योग की पूर्ति करते हैं। कबीर के संबन्ध में हमें यहाँ विशेषतः हठयोग पर विचार करना है क्योंकि कबीर के शब्दों में हठयोग का विशेष रूप मिलता है।

हठयोग का सारभूत तत्व तो बलपूर्वक ईश्वर से मिलता है। उसमें शारीरिक और मानसिक परिश्रम की आवश्यकता विशेष रूप से पड़ती है। शरीर को अधिकार में लाने के लिए कुछ आसनों का अभ्यास करना पड़ता है—खासकर श्वास का आवागमन (प्राणायाम) संचालित करना पड़ता है। और मन को रोकने के लिए ध्यानादि की आवश्यकता पड़ती है।[१] योग-सूत्र के निर्माता पतंजलि ने (ईसा की दूसरी शताब्दी पहले) योग साधन के लिए आठ अँग माने हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

---

१. यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधियोऽष्टावंगानि

[पतंजलि योगदर्शन २—साधनपाद, सूत्र २९

१ यम
२ नियम
३ आसन
४ प्राणायाम
५ प्रत्याहार
६ धारणा
७ ध्यान और
८ समाधि

यम और नियम में आचार को परिष्कृत करने की आवश्यकता पड़ती है। यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह होना चाहिए।[1] नियम में पवित्रता, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान की प्रधानता है।[2] आसन में[3] ईश्वरीय चिंतन के लिए शरीर की भिन्न-भिन्न स्थितियों का विचार है। शरीर की ऐसी दशा हो जिसमें वह स्थिर होकर हृदय को ईश्वरीय चिंतन के लिए उत्साहित करे। आसन पर अधिकार हो जाने पर योगी शीत और ताप से प्रभावित नहीं होता है।[4] शिवसंहिता के अनुसार ८४ आसन हैं।[5] उनमें से चार मुख्य हैं—सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन। प्रत्येक आसन से शरीर का कोई न कोई भाग शक्तियुक्त बनता है। शरीर रोग-रहित हो

---

१. तत्राहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायनमाः
[पतंजलि योग-सूत्र २—साधनपाद; सूत्र ३०

२. शौच संतोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि
नियमः [,, ,, ,, सूत्र ३२

३. स्थिर सुखमासनम् [,, ,, ,, सूत्र ४६

४. ततो द्वन्द्वानभिघातः [,, ,, ,, सूत्र ४८

५. चतुरशीत्यासनानि संति नाना विधान च
[शिवसंहिता, तृतीय पटल, श्लोक ८४

जाता है।

प्राणायाम बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राणायाम से तात्पर्य यही है कि वायु-स्नायु या (Vagus Nerve) स्नायु-केन्द्रों पर इस प्रकार अधिकार प्राप्त कर ले कि श्वासोच्छ्वास की गति नियमित और नादयुक्त (rhythmic) हो जाय। आसन के सिद्ध हो जाने पर ही श्वास और प्रश्वास की गति नियमित करने वाले प्राणायाम की शक्ति उद्भासित होती है।[1] प्राणायाम से प्रकाश का आवरण नष्ट हो जाता है और मन में एकाग्रता की योग्यता आ जाती है।[2] प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास की वायु के विशेष नाम हैं। प्रश्वास (बाहर छोड़ी जाने वाली वायु) का नाम 'रेचक' है, श्वास (भीतर जाने वाली वायु) को 'पूरक' कहते हैं और भीतर रोकी जाने वाली 'कुंभक' कहलाती है। शिवसंहिता में प्राणायाम करने की आरंभिक विधि का सुन्दर निरूपण किया गया है।[3]

फिर बुद्धिमान अपने दाहिने अँगूठे से पिंगला (नाक का दाहिना

---

१. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः
[पतंजलि योगसूत्र २—साधनपाद, सूत्र ४९

२. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ,, ,, सूत्र ५२
धारणासु च योग्यता मनसः [पतंजलि योगसूत्र,
२—साधनपाद, सूत्र ५३

३. ततश्च वक्षांगुष्ठन विरुद्ध्य पिंगलां सुधी
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्या तु कुम्भयेत्
ततस्यक्त्वा पिंगलया शनैरेव न वेगतः।
[शिवसंहिता, तृतीय पटल, श्लोक २२

पुनः पिंगल्याऽऽपूर्य यथाशक्त्या तु कुम्भयेत्
इडया रेचयेद्वायुं न वेगेन शनैः शनैः।
[शिवसंहिता, तृतीय पटल, श्लोक २३

भाग) बंद करे। इडा (बाँये भाग) से साँस भीतर खींचे; और इस प्रकार यथाशक्ति वायु अंदर ही बंद रखे। इसके पश्चात् जोर से नहीं, धीरे-धीरे दाहिने भाग से साँस बाहर निकाले। फिर वह दाहिने भाग से साँस खींचे, और यथा-शक्ति उसे रोके रहे, फिर बाँयें भाग से ज़ोर से नहीं, धीरे-धीरे वायु बाहर निकाल दे।

प्रत्याहार में इंद्रियाँ अपने कार्यों से अलग हट कर मन के अनुकूल हो जाती हैं। अपने विषयों की उपेक्षा कर इंद्रियाँ चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती हैं।[1] साधारण मनुष्य अपनी इंद्रियों का दास होता है। इंद्रियों के दुःख से उसे दुःख होता है और सुख से सुख। योगी इससे भिन्न होता है। यम, नियम, आसन और प्राणायाम की साधना के बाद वह अपनी इंद्रियों को अपने मन के अनुरूप बना लेता है। जब वह नहीं देखना चाहता तो उसकी आँखें बाह्य पदार्थ के चित्र को ग्रहण ही नहीं करतीं, चाहे वे पूर्ण रूप से खुली ही क्यों न हों। जब वह स्वाद नहीं लेना चाहता तो उसकी जिह्वा सारे पदार्थों का स्वाद-गुण अनुभव ही न करेगी चाहे वे उस पर रखे ही क्यों न हों। यहीं नहीं, वे इंद्रियाँ मन के इतने वश में हो जाती हैं कि मन की वाँछित वस्तुएँ भी वे मन के समक्ष रख देती हैं।[2] यदि मन संगीत सुनना चाहता है तो कर्णेन्द्रिय मधुर से मधुर शब्द-तरंगों को ग्रहण कर मन के समीप उपस्थित कर देती है। यदि मन सुन्दर दृश्य देखना चाहता है तो नेत्र चित्र-तरंगों को ग्रहण कर मन के पटल पर सुन्दर चित्र अंकित कर देता है। करने का तात्पर्य यही है कि इंद्रियाँ मन के स्वरूप ही का अनुकरण करने लगती हैं। प्राणायाम से मन तो नियंत्रित होता ही है, प्रत्याहार

---

१. **स्वविषया संप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणांप्रत्याहारः।**
[पतंजलि योग-सूत्र, २—साधन पाद, सूत्र ५४

२. **ततः परमा वश्यता इन्द्रियाणाम्—**
[पतंजलि योगसूत्र, २—साधन पाद, सूत्र ५४

से इंद्रियाँ भी नियंत्रित हो जाती हैं।

धारणा में मन किसी स्थान अथवा वस्तु-विशेष पर दृढ़ या केंद्रीभूत हो जाता है।[1] नाभि, हृदय, कंठ इनमें से किसी एक पर, एक समय में मन चक्कर लगाता रहेगा। यहाँ तक कि वह स्थान चित्र का रूप लेकर स्पष्ट सामने आ जायगा।

ध्यान में अनवरत रूप से वस्तु-विशेष पर चिंतन कर[2] अन्य विचारों की सीमा से मन को बाहर कर देना होता है। एक ही बात पर निरंतर रूप से मन की शक्तियों को एकाग्र करने की आवश्यकता होती है।

धारणा और ध्यान के बाद समाधि आती है। समाधि में एकाग्रता चरम सीमा पर पहुँच जाती है। जिस वस्तु-विशेष का ध्यान किया जाता है, उसी वस्तु का आतंक सारे हृदय में इस प्रकार हो जाय कि हृदय अपने अस्तित्व ही को भुला दे। केवल एक भाव—एक विचार ही का प्रकाश रह जाय। उसी प्रकाश में हृदय समा जाय[3] मन शरीर से मुक्त होकर एक अनंत प्रकाश में लीन हो जाय।[4] यही तीनों धारणा, ध्यान, और समाधि मिलकर संयम का रूप लेते हैं।[5]

कबीर के 'शब्दों' में हमें योग के इन आठों अंगों का रूप मिलता है पर बहुत संक्षिप्त। उसमें केवल भाव है, उसका स्पष्टीकरण नहीं है। हम कबीर के शब्दों में 'यम' का विशेष विवरण पाते हैं।

---

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा—३—विभूति पाद, सूत्र १

२. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्— ,, सूत्र २

३. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः—
३—विभूति पाद, सूत्र ३

४. घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं कुर्यात् परात्मनि
समाधिं तं विजानीयान्मुक्त संज्ञो दशादिभिः—
घेरंड संहिता सप्तमोपदेश, श्लोक ३

५. त्रयमेकत्र संयमः [पतंजलि योग-सूत्र ३—विभूति पाद, सूत्र ४

यम :—

(अ) अहिंसा

मांस अहारी मानवा
परतछ राक्षस अङ्ग,
तिनकी सङ्गति मत करो
परत भजन में भङ्ग।
जोरि कर जिबहै करै,
कहते हैं ज हलाल,
जब दफतर देखैगा दई,
तब ह्वैगा कौन हवाल।

(आ) सत्य

साँई सेती चोरिया
चोरां सेती गुझ
जाणैगा रे जीवणा,
मार पड़ेगी तुझ।

(इ) अस्तेय

कबीर तहाँ न जाइये,
जहाँ कपट का हेत,
जालूं कली कनीर की
तन राता मन सेत।

(ई) ब्रह्मचर्य

नर नारी सब नरक हैं,
जब लग देह सकाम,
कहै कबीर ते राम के,
जे सुमिरें निहकाम।

(उ) अपरिग्रह

कबीर तिष्ना टोकणी,
लीए फिरे सुभाइ,
राम नाम चीन्हे नहीं,
पीतलि ही के चाइ।

कबीर ने आसन और प्राणायाम का महत्त्व प्रभावशाली शब्दों में बतलाया है। इसी के द्वारा उन्होंने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि शरीर की शक्तियों को सुसंगठित कर उत्तेजित करने से परमात्मा से मिलन हो सकता है। यह बात दूसरी है कि उन्होंने धारणा, ध्यान और समाधि पर विशेष नहीं कहा, पर उनके प्राणायाम से यह लक्षित अवश्य हो गया है कि ध्यान और समाधि ही के लिये प्राणायाम की आवश्यकता है। प्राणायाम के अभ्यास से प्राण-वायु के द्वारा शरीर में स्थित वायु नाड़ियाँ और चक्र उत्तेजित होते हैं और उनमें शक्ति आती है। इन्हीं वायु-नाड़ियों और चक्रों में शक्ति का संचार होने से मनुष्य में यौगिक शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। शिवसंहिता के अनुसार शरीर में ३,५०,००० नाड़ियाँ हैं। इनके बिना शरीर में प्राणायाम का कार्य नहीं हो सकता। दस नाड़ियाँ अधिक महत्त्व की हैं। वे ये हैं :—

१—इडा— (शरीर की बायीं ओर)
२—पिंगला— (,, की दाहिनी ओर)
३—सुषुम्णा— (,, के मध्य में)
४—गंधारी— (बायीं आँख में)
५—हस्तिजिह्वा— (दाहिनी आँख में)
६—पुष्प— (दाहिने कान में)
७—यशस्विनी— (बायें कान में)
८—अलमबुश— (मुख में)
९—कुहू— (लिंग स्थान में)
१०—शंखिनी— (मूल स्थान में)

इन दस नाड़ियों में भी तीन नाड़ियाँ मुख्य है। इडा, पिंगला और सुषुम्णा। इडा मेरु-दंड (Spinal Column) की बायीं ओर है। वह सुषुम्णा में लिपटती हुई नाक की दाहिनी ओर जाती है।[1] पिंगला नाड़ी मेरु-दंड की दाहिनी ओर है। वह सुषुम्णा से लिपटती हुई नाक की बायीं ओर जाती है।[2] दोनों नाड़ियाँ समाप्त होने से पहले एक दूसरे को पार कर लेती हैं। ये दोनों नाड़ियाँ मूलाधार चक्र (गुह्य स्थान के समीप—Plexus of Nerves) से आरंभ होती हैं और नाक में जाकर समाप्त होती हैं। ये दोनों नाड़ियाँ आधुनिक शरीर-विज्ञान में 'गेंग्लिएटेड कार्ड्स' (Gangliated Chords) के नाम से जानी जा सकती हैं ?

तीसरी सुषुम्णा नाड़ी इडा और पिंगला के मध्य में हैं।[3] उसकी छः स्थितियाँ हैं, छः शक्तियाँ हैं और उनमें छः कमल हैं। वह मेरु-दंड में से जाती है। वह नाभि-प्रदेश से उत्पन्न होकर मेरु-दंड से होती हुई ब्रह्म चक्र में प्रवेश करती है। जब यह नाड़ी कंठ के समीप आती है तो दो भागों में विभाजित हो जाती है। एक भाग तो त्रिकुटी (दोनों भौंहों के मध्य स्थान) लोब आँव इंटेलिजेंस (Lobe of Intelligence) में पहुँच कर ब्रह्म-रंध्र से मिलता है और दूसरा भाग सिर के पीछे से होता

---

१. इडा नाम्नी तु या नाडी वाममार्गे व्यवस्थिता
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गता....
[शिवसंहिता, द्वितीय पटल, श्लोक २५

२. पिंगला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता
मध्यनाडीं समाश्लिष्य वामनासापुटे गता....
[शिवसंहिता, द्वितीय पटल, श्लोक २६

३. इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु
षट्स्थानेषु च षट्शक्ति षट्पद्मं योगिनो विदुः....
[शिवसंहिता, द्वितीय पटल, श्लोक २७

हुआ ब्रह्म-रंध्र में आ मिलता है।[1] योग में इसी दूसरे भाग की शक्तियों की वृद्धि करना आवश्यक माना गया है। इन तीन नाड़ियों में सुषुम्णा बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी के द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है।

इस सुषुम्णा नाड़ी के निम्न मुख में कुंडलिनी (सर्पाकार दिव्यशक्ति) निवास करती है।[2] जब कुंडलिनी प्राणायाम से जागृत हो जाती है, तो वह सुषुम्णा के सहारे आगे बढ़ती है। सुषुम्णा के भिन्न-भिन्न अंगों (चक्रों) से होती हुई और उनमें शक्ति डालती हुई वह कुंडलिनी ब्रह्म-रंध्र की ओर बढ़ती है। जैसे-जैसे कुंडलिनी आगे बढ़ती है वैसे-वैसे मन भी शक्तियाँ प्राप्त करता जाता है। अन्त में जब यह कुंडलिनी सहस्र-दल कमल में पहुँचती है तो सारी यौगिक क्रियाएँ सिद्ध हो जाती हैं और योगी मन और शरीर से अलग हो जाता है। आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र हो जाती है।

सुषुम्णा की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ जिनमें से होकर कुंडलिनी आगे बढ़ती है, चक्रों के नाम में पुकारी जाती हैं। सुषुम्णा में छः चक्र हैं।

सबसे नीचे का चक्र बेसिक प्लेक्सस (Basic plexus) कहलाता है। यह मेरु-दंड के नीचे तथा गुह्य स्थान और लिंग के मध्य में रहता है।[3] इसमें चार दल होते हैं। इसका रंग पीला माना गया है और इसमें गणेश का रूप ही आराधना का साधन है। इसके चार दलों के संकेताक्षर हैं—व श ष स। इस चक्र में एक त्रिकोण आकार है जिसमें

---

१. दि मिस्टीरियस कुंडलिनी (रेले), पृष्ठ ३६

२. तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली पर देवता
साद्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग संस्थिता—
[शिवसंहिता, द्वितीय पटल, श्लोक २३

३. गुदा द्व्यंगुलतश्चोर्ध्वं मेढ़ैकांगुलस्त्वधः
एवं चास्ति समं कंदं समत्वांच तुरंगुलम्—
[शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक ५

कुंडलिनी, वेगस नर्व (Vagus Nerve) निवास करती है। उसका शरीर सर्प के समान साढ़े तीन बार मुड़ा हुआ है और वह अपने मुख में अपनी पूँछ दबाये हुए है। वह सुषुम्णा नाड़ी के छिद्र के समीप स्थित है।[1]

उसका रूप इस प्रकार है :—
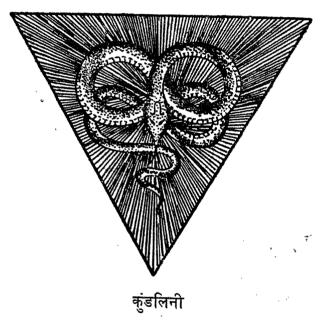
कुंडलिनी

कुंडलिनी, वेगस नर्व (Vagus Nerve) ही हठयोग में बड़ी

---

१. मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविविरे स्थिता—
[शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक ५७
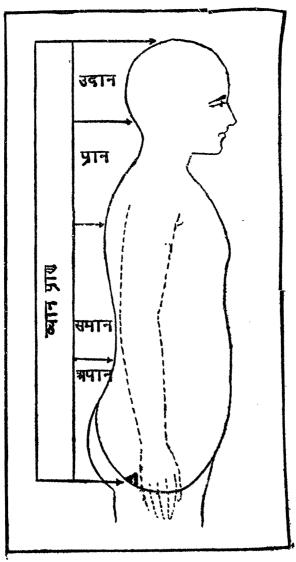
वायु निरूपण.

शक्ति है। वह संसार की सृजन-शक्ति है।[1] वह वाग्देवी है जिसका शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता। वह सर्प के समान होती है और अपनी ही ज्योति से आलोकित है।[2] इस कुंडलिनी के जागृत होने की रीति समझने से पहले पंच-प्राण का ज्ञान आवश्यक है। यह प्राण एक प्रकार की शक्ति है जो शरीर में स्थिर होकर हमारे शारीरिक कार्यों का संचालन करती है। इसे वायु भी कहते हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में स्थित होने के कारण इसके भिन्न-भिन्न नाम हो गये हैं। शरीर में दस वायु हैं : प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय।[3] इनमें से प्रथम पाँच मुख्य हैं। प्राण-वायु हृदय-प्रदेश का शासन करती है। अपान नाभि के नीचे के भागों में व्याप्त है, समान नाभि-प्रदेश में है। उदान कंठ में है और व्यान सारे शरीर में प्रवाहित है। इसका रूप चित्र १ में देखिए।

योगी इन सब प्रकार की वायुओं को नाभि की जड़ से ऊपर उठाता है और प्राणायाम के द्वारा उन्हें साधता है। इन्हीं वायुओं की साधना कर सूर्यभेद-कुंभक प्राणायाम की विशिष्ट क्रिया द्वारा वह योगी मृत्यु का विनाश करता है और कुंडलिनी शक्ति को जागृत करता है।[4] इस

---

१. जगत्संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सततोद्यता
वाचामवाच्या वाग्देवी सदा देवैर्नमस्कृता—
[शिवसंहिता, द्वितीय पटल, श्लोक २४

२. सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया....
[शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक, ५८

३. प्राणोऽपानसमानश्चोदानव्यानौ तथैव च
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः....
[घेरंड संहिता, पंचम उपदेश, श्लोक ६०

४. कुंभकः सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशकः
बोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं देहानलं विवर्धयेत्—
[घेरंड संहिता, पंचम उपदेश, श्लोक ६८

प्रकार कुंडलिनी के जागृत करने के लिए इन पंच प्राणों के साधन की भी आवश्यकता है। कबीर ने इन वायुओं के संबंध में अनेक स्थानों पर लिखा है :—

तिन बिनु बाणैं धनुष चढ़ाईयें
इहु जग बेध्या भाई,
वह विसी बूड़ी पवन झुलावै
डोरि रही लिव लाई।

+ + +

पृथ्वी का गुण पानी सोख्या
पानी तेल मिलावहिंगे, ।
तेज पवन मिलि, पवन सबद मिलि
ये कहि गालि तवावहिंगे।

+ + +

उलटी गंग नीर बहि आया
अमृत धार चुवाई
पांच जने सो सँग कर लीन्हें
चलत खुमारी लागी।

+ + +

मूलाधार चक्र पर मनन करने से उस ज्ञानी पुरुष को दरदुरी सिद्धि (मेढक के समान उछलने की शक्ति) प्राप्त होती है और शनैः शनैः वह पृथ्वी को संपूर्णतः छोड़ कर आकाश में उड़ सकता है।[1] शरीर का तेज उत्कृष्ट होता है, जठराग्नि बढ़ती है, शरीर रोग-मुक्त हो जाता है, बुद्धि और सर्वज्ञता आती है। वह कारणों के सहित भूत, वर्तमान और भविष्य

---

१. यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः
तस्य स्याद्दर्दुरी सिद्धि र्भूमित्यागक्रमेण व—
[शिवसंहिता, पंचम पटल के ६४, ६५, ६६, ६७ श्लोक

जान जाता है। वह न सुनी गई विद्याओं को उनके रहस्यों सहित जान जाता है। उसकी जीभ पर सदैव सरस्वती नाचती है। वह अपने-मात्र से मंत्र-सिद्धि प्राप्त कर लेता है। वह जरा, मृत्यु और अगणित कष्टों को नष्ट कर देता है। उस चक्र का रूप इस प्रकार है—
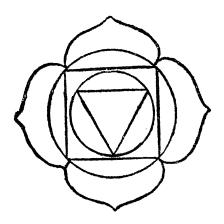
मूलाधार चक्र

(२) स्वाधिष्ठान चक्र

यह चक्र लिंगमूल में स्थित हैं।[1] शरीर-विज्ञान के अनुसार इसे हाइपोगास्ट्रिक प्लेक्सस (Hypogastric plexus) कह सकते हैं। इसमें छः दल होते हैं। इसके संकेताक्षर हैं ब, भ, म, य, र, ल। इसका नाम स्वाधिष्ठान चक्र है। यह चक्र रक्त वर्ण है। जो इस चक्र पर चिंतन करता है, उसे सभी सुन्दर देवांगनाएँ प्यार करती हैं। वह विश्व भर में

---

१. द्वितीयंतु सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम्
बादिलांतं च षड्वर्णं परिभास्वरषड्दलम्—
[शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक ७५

बंधन-मुक्त और भय-रहित होकर घूमता है। वह अणिमा और लघिमा सिद्धियों का स्वामी बनकर मृत्यु जीत लेता है।
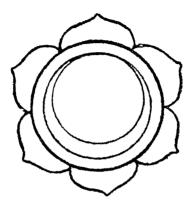
स्वाधिष्ठान चक्र

(३) मणिपूरक चक्र

यह चक्र नाभि के समीप स्थित है। यह सुनहले रंग का है, इसके दस दल हैं। इसके दलों के संकेताक्षर हैं। ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ। इसे शरीर-विज्ञान के अनुसार कदाचित् सोलर प्लेक्सस (Solar plexus) कहते हैं। इस चक्र[1] पर चिंतन करने से योगी पाताल (सदा सुख देने वाली) सिद्धि प्राप्त करता है। वह इच्छाओं का स्वामी, एवं रोग और दुःख का नाशकर्त्ता हो जाता है। वह दूसरे के शरीर में प्रवेश

---

[1] तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरक संज्ञकम्
दशारं डाफिकांताणं शोभितहेमवर्णकम्।
[शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक ७९

कर सकता है। वह स्वर्ण बना सकता है और छिपा हुआ खज़ाना भी देख सकता है।
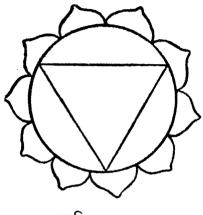
मणिपूरक चक्र

(४) अनाहत चक्र

यह चक्र हृदय-स्थल में रहता है।[१] इसके बारह दल होते हैं। इसके संकेताक्षर हैं, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ। यह रक्त वर्ण है। शरीर-विज्ञान के अनुसार यह कारडियक प्लेक्सस (Cardiac plexus) कहा जाता है। जो इस चक्र पर चिंतन करता है वह अपरिमित ज्ञान प्राप्त करता है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान जानता

---

१. हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत्।
काविठांतार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम्।
अयिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम्॥
[शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक ८३

है। वह वायु में चल सकता है, उसे खेचरी शक्ति (आकाश में जाने की शक्ति) मिल जाती है। इस चक्र का रूप इस प्रकार है :—

अनाहत चक्र
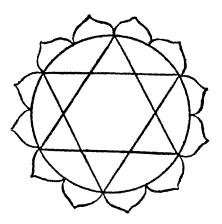
कबीर इस चक्र के विषय में कहते हैं :—

द्वादश दल अभिअन्तर म्यंत,
तहाँ प्रभु पाइसि कर लै च्यंत।
अमिलन मलिन घरह नहीं छाहां,
दिवसे न राति नहीं है ताहाँ। **शब्द ३२८**

(५) विशुद्ध चक्र

यह चक्र कंठ में स्थित है।[1] इसका रंग देदीप्यमान स्वर्ण की भाँति है। इसमें १६ दल हैं, यह स्वर-ध्वनि का स्थान है। इसके संकेताक्षर हैं, अ आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।

---

१. कंठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पंचमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वर संयुतम्॥
[शिवसंहिता, पंचम पटल श्लोक ९०

शरीर-विज्ञान के अनुसार इसे फैरिंगील प्लेक्सस (Pharyngeal Plexus) कह सकते हैं। जो इस चक्र पर चिन्तन करता है वह वास्तव में योगेश्वर हो जाता है। वह चारों वेदों को उनके रहस्यों के साथ समझ सकता है। जब योगी इस स्थान पर अपना मन केन्द्रित कर क्रुद्ध होता है तो तीनों लोक काँप उठते हैं। वह इस चक्र पर ध्यान करते ही बहिर्जगत् का परित्याग कर अन्तर्जगत् में रमने लगता है। उसका शरीर कभी निर्बल नहीं होता और वह १,००० वर्ष तक शक्ति-सहित जीवन व्यतीत करता है।

विशुद्ध चक्र

(६) आज्ञा चक्र
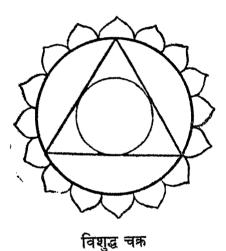
यह चक्र त्रिकुटी (भौंहों के मध्य) में स्थित है।[1] इसमें दो दल

---

१. आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्
शुक्लाभं तु महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी—
[शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक ९६

हैं, इसका रंग श्वेत है, संकेताक्षर ह और क्ष हैं। शरीर-विज्ञान के अनुसार इसे केवरनस प्लेक्सस (Cavernous Plexus) कह सकते हैं। यह प्रकाश-बीज है, इस पर चिंतन करने से ऊँची से ऊँची सफलता
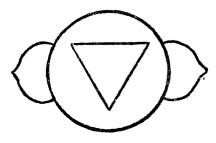
अज्ञा चक्र

अज्ञा चक्र

मिलती है।[1] इसके दोनों ओर इडा और पिंगला हैं वही मानो क्रमशः वरणा और असी हैं और यह स्थान वाराणसी है यहाँ विश्वनाथ का वास है।

कुण्डलिनी सुषुम्णा के छः चक्रों में से होती हुई ब्रह्म-रंध्र पहुँचती है। वहाँ सहस्त्र-दल कमल है, उसके मध्य में एक चन्द्र है। उसके त्रिकोण भाग से, जहाँ चन्द्र है, सदैव सुधा बहती है। वह सुधा इडा नाड़ी द्वारा प्रवाहित होती है। जो योगी नहीं हैं, उनके ब्रह्म-रंध्र से जो अमृत प्रवाहित होता है उसका शोषण मूलाधार चक्र में स्थित सूर्य द्वारा[2] होता जाता है और इस प्रकार वह नष्ट हो जाता है। इससे शरीर वृद्ध होने लगता है।

१. एतदेव परंतेजः सर्वतन्त्रेषु मान्त्रिणः ।
चिन्तयित्वा सिद्धिं लभते नात्र संशयः ।
[शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक ९८

२. मूलाधारे हि यत्पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम् ।
तत्र मध्येहि या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः ।
[शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक १०६
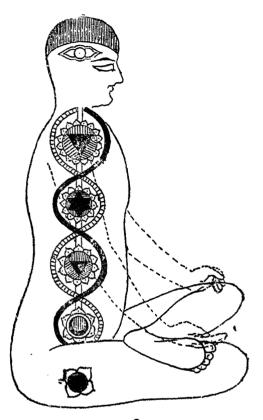
मनुष्य के शरीर में षट् चक्रों का निरूपण.

नाड़ियों सहित मनुष्य के शरीर में षट चक्र

चित्र २

यदि साधक इस प्रवाह को किसी प्रकार रोक दे और सूर्य से शोषण न होने दे तो उस सुधा को वह अपने शरीर की शक्तियों की वृद्धि करने में लगा सकता है। उस सुधा के उपयोग से वह अपना सारा शरीर जीवन की शक्तियों से भर लेगा और यदि उसे तक्षक सर्प भी काट ले तो उसके सर्वांग में विष नहीं फैल सकता।[1]

सहस्र-दल कमल तालु-मूल में स्थित है।[2] वहीं पर सुषुम्णा का छिद्र है। यही ब्रह्म-रंध्र कहलाता है। तालु-मूल से सुषुम्णा का नीचे की ओर विस्तार है।[3] अन्त में वह मूलाधार चक्र में पहुँचती है। वहीं से कुंडलिनी जागृत होकर सुषुम्णा में ऊपर बढ़ती है और अन्त में ब्रह्म-रंध्र में पहुँचती है। ब्रह्म-रंध्र में ब्रह्म की स्थिति है जिसका ज्ञान योगी सदैव प्राप्त करना चाहता है। इस रंध्र में छः दरवाज़े हैं जिन्हें कुंडलिनी ही खोल सकती है। इस रंध्र का विंदु (०) रूप है। इसी स्थान पर 'प्राणशक्ति' संचित की जाती है। प्राणायाम की उत्कृष्ट स्थिति में इसी विंदु में आत्मा ले जाई जाती है। इसी विंदु में आत्मा शरीर से स्वतन्त्र होकर 'सोऽहं' का अनुभव करती है। मनुष्य के शरीर में षट्चक्रों का निरूपण चित्र २ में देखिए।

कबीर ने अपने शब्दों में इन चक्रों का वर्णन विस्तार से तो नहीं किंतु साधारण रूप से किया है। उदाहरणार्थ एक पद लीजिए :—

---

१. हठयोग प्रदीपिका, पृष्ठ ५३

२. अतः उर्ध्वतालुमूले सहस्रारं सरोरुहम्
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविविरं स्थितम्।
[शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक १२०

३. तालुमूले सुषुम्णा सा अधोवक्त्रा प्रवर्तते—
[शिवसंहिता; पंचम पटल, श्लोक, १२१

(ब्रह्म-रंध्र के विंदु पर)

ब्रह्म अगनि मैं काया जारै,
त्रिकुटी संगम जागै,
कहै कबीर सोई जोगेश्वर,
सहज सुन्न ल्यो लागै।

कबीर ग्रंथावली, शब्द ६९

सहज सुन्न इक बिरवा उपजा
धरती जलहर सोख्या,
कहि कबीर हौं ताका सेवक
जिन यहु बिरवा देख्या।

शब्द १०८

जन्म मरन का भय गया,
गोविन्द लव लागी,
जीवत सुन्न समानिया,
गुरु साखी जागी।

शब्द ७३

रे मन बैठि कितै जिन जासी।
उलटि पवन षट चक्र निवासी
तीरथ राज गंग तट वासी।
गगन मंडल रवि ससि दोइ तारा,
उलटी कूँची लाग किवारा।
कहै कबीर भया उजियारा,
पंच मारि एक रह्यो निनारा।

प्राणायाम की साधना की सफलता धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में पहिचान कर कबीर ने उनका एक साथ ही वर्णन कर दिया है। हम कबीर को योग-शास्त्र का पूर्ण पंडित उनके केवल सत्संग ज्ञान से नहीं मान सकते। धारण, ध्यान, और समाधि का संमिश्रण हम उनके रेखतों में

व्यापक रूप से पाते हैं। न तो उन्होंने धारणा का ही स्वरूप निर्धारित किया है और न ध्यान एवं समाधि का ही। तीनों की 'त्रिवेनी' उन्होंने एक साथ ही प्रवाहित कर दी है। इस स्थल को समझने के लिए उनके वे रेखते जिनमें उन्होंने प्राणायाम के साथ धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन किया है उद्धृत करना अयुक्तिसंगत न होगा।

देख बोजूद में अजब बिसराम है
होय मौजूद तो सही पावै,
फेरि मन पवन को घेरि उलटा चढ़े
पाँच पच्चीस को उलटि लावै।
सुरत का डोर सुख सिंध का झूलना
घोर की सोर तहँ नाद गावै,
नीर बिन कंवल तह देखि अति फूलिया
कहै कब्बीर मन भँरव छावै।
चक्र के बीच में कंवल अति फूलिया
तासु का सुक्ख कोई संत जानै,
कुलुफ़ नौ द्वार औ पवन का रोकना
तिरकुटी मद्ध मन भँवर आनै।
सब्द की घोर चहूँ ओर ही होत है
अधर दरियाव को सुक्ख मानै,
कहै कब्बीर यो झूल सुख सिंध में
जन्म और मरन का भर्म भानै।
गंग और जमुन के घाट को खोजि ले
भँवर गुंजार तहँ करत भाई
सरसुती नीर तह देखु निर्मल बहै
तासु के नीर पिये प्यास न जाई।
पांच की प्यास तहं देखि पूरी भई
तीन ताप तहं लगे नाहीं,

कहै कब्बीर यह अगम का खेल है
गैब का चांदना देख माँही।
गड़ा निस्सान तहँ सुन्न के बीच में
उलटि के सुरत फिर नांहि आवै।
दूध को मत्थ करि घिर्त न्यारा किया
बहुरि फिर तत्त में ना समावै।
माड़ि मत्थान तहँ पाँच उलटा किया
नाम नौनीति लै सुक्ख फेरी
कहै कब्बीर यों सन्त निर्भय हुआ
जन्म और मरन की मिटी फेरी।

●

प्रकरण १२

सूफ़ीमत और कबीर

रहस्यवाद का अंतिम लक्ष्य है आत्मा और परमात्मा का मिलन। इस मिलन में एक बात आवश्यक है। वह आत्मा की पवित्रता है। यदि आत्मा में ईश्वर से मिलने की उत्कट आकांक्षा होने पर भी पवित्रता नहीं है तो परमात्मा का मिलन नहीं हो सकता। आत्मा की सारी आकांक्षा घनीभूत होकर पवित्रता की समता नहीं कर सकती। पवित्रता में जो शक्ति है, वह आकांक्षा में कहाँ ? आकांक्षा न होने पर भी पवित्रता दैवी गुणों का आविर्भाव कर सकती है। उसमें आध्यात्मिक तत्व की वे शक्तियाँ अंतर्निहित है जिनसे ईश्वर की अनुभूति सहज ही हो सकती है। यह पवित्रता उन विचारों से बनती है जिनमें वासना, छल, कुरुचि और अस्तेय का वहिष्कार है। वासना का कलुषित व्यभिचार हृदय को मलीन न होने दे। छल का व्यवहार मन में विचारों को विकृत न होने दे। कुरुचि का जघन्य पाप हृदय की प्रवृत्तियों को बुरे मार्ग पर न ले जाय और अस्तेय का आतंक हृदय में दोषों का समुदाय एकत्रित न कर दे ? इन दोषों के आतंक से निकल कर जब आत्मा अपनी प्राकृतिक प्रगति करती हुई जीवन के अंग प्रत्यंग में प्रकाशित होती है तो उसका वह आलोक पवित्रता के नाम से पुकारा जाता है। यह पवित्रता ईश्वरीय मिलन के लिये आवश्यक उपादान है। जलालुद्दीन रूमी ने यही बात अपनी मसनवी के ३४६० वें पद्य में लिखी है जिसका भावार्थ यह है कि 'अपने अहं की विशेषताओं से दूर रह कर पवित्र बन, जिससे तू अपना मैल से रहित उज्ज्वल तत्त्व देख सके।'

यह पवित्रता केवल बाह्य न होकर आंतरिक भी होनी चाहिए। स्नान कर चंदन तिलक लगाना पवित्रता का लक्षण नहीं है। पवित्रता का लक्षण है हृदय की निष्कपट और निरीह भावना। उसी पवित्रता से

ईश्वर प्रसन्न होता है। तभी तो कबीर ने कहा :—

कहाँ भयो रचि स्वांग बनायो,
अंतरजामी निकट न आयो।
कहा भयो तिलक गरैं जपमाला,
मरन न जानैं मिलन गोपाला॥
दिन प्रति पसू करैं हरिहाई,
गरैं काठ बाकी बांन न आई।
स्वांग सेत करणीं मनि काली,
कहा भयो गलि माला घाली।
बिन ही प्रेम कहा भयो रोए,
भीतरि मैलि बाहरि कह धोए।
गलगल स्वाद भगति नहीं धीर,
चीकन चँदवा कहै कबीर।

सारी वासनाओं को दूर कर हृदय को शुद्ध कर लो, यही परमात्मा से मिलन का मार्ग है। उसी पवित्र स्थान में परमात्मा निवास करता है जो दर्पण के समान स्वच्छ और पवित्र है, कु-वासनाओं की कालिमा से दूर है। रूमी ने ३४५९ वें पद्य में कहा है :—'साफ़ किये हुए लोहे की भाँति जंग के रंग को छोड़ दे, अपने तापस-नियोग से जंग-रहित दर्पण बन।' इसी विषय की विवेचना में उसने चित्र-कला के संबंध में ग्रीस और चीन वालों के वाद-विवाद की एक मनोरंजक कहानी भी दी है, उसे यहाँ लिख देना अनुपयुक्त न होगा।

चित्र-कला में ग्रीस और चीनवालों के वाद-विवाद की कहानी

चीनवालों ने कहा—"हम लोग अच्छे कलाकार हैं।" ग्रीसवालों ने कहा—"हम लोगों में अधिक उत्कृष्टता और शक्ति है।"

३४६८, सुलतान ने कहा—"इस विषय में तुम दोनों की परीक्षा लूंगा। और तब यह देखूंगा कि तुममें से कौन अधिकार में सच्चा उतरता है।"

३४६६, चीन और ग्रीसवाले वाग्युद्ध करने लगे, ग्रीसवाले विवाद से हट गये ।

३४७०, तब चीनियों ने कहा—"हमें कोई कमरा दे दीजिये और आप लोग भी अपने लिए एक कमरा ले लीजिये ।"

३४७१, दो कमरे थे जिनके द्वार एक दूसरे के संमुख थे । चीनियों ने एक कमरा ले लिया, ग्रीसवालों ने दूसरा ।

३४७२, चीनियों ने राजा से विनय की, उन्हें सौ रंग दे दिये जायँ । राजा ने अपना ख़ज़ाना खोल दिया कि वे (अपनी इच्छित वस्तुएँ) पा जायँ ।

३४७३, प्रत्येक प्रातः राजा की उदारता से, ख़ज़ाने की ओर से चीनियों को रंग दे दिये जाते ।

३४७४, ग्रीसवालों ने कहा—"हमारे काम के लिये कोई रंग की आवश्यकता नहीं, केवल जंग छुड़ाने की आवश्यकता है ।"

३४७५, उन्होंने दरवाज़ा बंद कर लिया और साफ़ करने में लग गए । वे (वस्तुएँ) आकाश की भाँति स्वच्छ और पवित्र हो गयीं ।

३४७६, अनेक रंगता की शून्य की ओर गति है, रंग बादलों की भाँति है और शून्य रंग चंद्र की भाँति ।

३४७७, तुम बादलों में जो प्रकाश और वैभव देखते हो, उसे समझ लो कि वह तारों, चंद्र और सूर्य से आता है ।

३४७८, जब चीन वालों ने अपना काम समाप्त कर दिया, वे अपनी प्रसन्नता की दुंदुभी बजाने लगे ।

३४७९, राजा आया और उसने वहाँ के चित्र देखे । जो दृश्य उसने वहाँ देखा, उससे वह अवाक् रह गया ।

३४८०, उसके बाद वह ग्रीसवालों की ओर गया, उन्होंने बीच का परदा हटा दिया है ।

३४८१, चीनवालों के चित्रों का और उनके कला-कार्यों का प्रतिबिंब इन दीवारों पर पड़ा जो जंग से रहित कर उज्ज्वल बना दी गई थीं ।

३४८२, जो कुछ उसने वहाँ (चीनवालों के कमरे में) देखा था, यहाँ और भी सुन्दर जान पड़ा। मानों आँख अपने स्थान से छीनी जा रही थी।

३४८३, ग्रीसवाले, ओ पिता! सूफ़ी हैं। वे अध्ययन, पुस्तक और ज्ञान से रहित (स्वतंत्र) हैं।

३४८४, किन्तु उन्होंने अपने हृदय को उज्ज्वल बना लिया है और उसे लोभ, काम, लालच और घृणा से रहित कर पवित्र बना लिया है।

३४८५, दर्पण की वह स्वच्छता तो निस्संदेह हृदय है, जो अगणित चित्रों को ग्रहण करता है।

इस प्रकार आत्मा के पवित्र हो जाने पर उससे परमात्मा से मिलने की क्षमता आती है।

आध्यात्मिक यात्रा के प्रारंभ में यद्यपि आत्मा परमात्मा से अलग रहती है, पर जैसे-जैसे आत्मा पवित्र बन कर ईश्वर से मिलने की आकांक्षा में निमग्न होने लगती है वैसे-वैसे उसमें ईश्वरीय विभूतियों के लक्षण स्पष्ट दीखने लगते हैं। जब आत्मा परमात्मा के पास पहुँचती है तो उस दिव्य संयोग में वह स्वयं परमात्मा का रूप रख लेती है। रूमी ने अपनी मसनवी के १५३१ वें और उसके आगे के पद्यों में लिखा है—

जब लहर समुद्र में पहुँची, वह समुद्र बन गई। जब बीज खेत में पहुँचा वह शस्य बन गया।

जब रोटी जीवधारी (मनुष्य) के संपर्क में आई तो मृत रोटी जीवन और ज्ञान से परिप्रोत हो गई।

जो मोम और ईंधन आग को समर्पित किये गये तो उनका अंधकार मय अन्तर-तम भाग जाज्वल्यमान हो गया।

जब सुरमे का पत्थर भस्मीभूत हो नेत्र में गया तो वह दृष्टि में परिवर्तित हो गया और वहाँ वह निरीक्षक हो गया।

ओह, वह मनुष्य कितना सुखी है जो अपने से स्वतंत्र हो गया है और एक सजीव के अस्तित्व में सम्मिलित हो गया है !

कबीर ने इसी विचार को बहुत परिष्कृत रूप में रक्खा है। वे यह नहीं कहते कि जब लहर समुद्र में पहुँची तो समुद्र बन गई, पर वे यह कहते हैं कि हम इस प्रकार दिखेंगे जैसे तरंगिनी की तरंग, जो उसी में उत्पन्न होकर उसी में मिलती है। रूमी तो कहता है कि जब तरंग समुद्र में पहुँची तब वह समुद्र बनी। पहले वह समुद्र अथवा समुद्र का भाग नहीं थी। कबीर का कथन है कि तरंग तो सदैव तरंगिनी में वर्तमान है। उसी में उठती और उसी में गिरती है—

जैसे जल तरंग तरंगिनी,
ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर,
हँसहि हंस मिलावहिंगे॥

ऐसी स्थिति में संसार के बीच आत्मा ही परमात्मा का स्वरूप ग्रहण करती है। आत्मा की सेवा मानों परमात्मा की सेवा है और आत्मा का स्पर्श मानो परमात्मा का स्पर्श है। आत्मा संसार में उसी प्रकार रहती है जिस प्रकार परमात्मा की विभूति संसार के अंग प्रत्यंग में निवास करती रहती है। आत्मा में एक प्रकार की शक्ति आ जाती है जिसके द्वारा वह शरीर को भूल कर विश्व की बृहत् परिधि में विचरण करने लगती है। वह मनुष्यता को पाप के कलुषित आतंक से बचाती है, पाप का निवारण करने लगती है और जो व्यक्ति ईश्वर-विमुख हैं अथवा धार्मिक पथ के प्रतिकूल हैं उसे सहारा देकर उन्नति की ओर अग्रसर करती है। वह आत्मा जो ईश्वर के आलोक से आलोकित है, अन्य आत्माओं की अंधकारमयी रजनी में प्रकाश-ज्योति बन कर पथ-प्रदर्शन करती है। उसमें फिर यह शक्ति आ जाती है कि वह संसार के भौतिक साधनों की नश्वरता समझ कर आध्यात्मिक साधनों का महत्त्व संसार के सामने रूपकों की भाषा में रखने लगे। उसी समय

आत्मा लोगों के सामने उच्च स्वर में कह सकती है कि मैं परमात्मा हूँ। मेरे ही द्वारा अस्तित्व का तत्व पृथ्वी पर वर्तमान हैं, यही रहस्यवाद की उत्कृष्ट सफलता है।

आत्मा के ईश्वरत्व की इस स्थिति को जलालुद्दीन रूमी ने अपनी मसनवी में एक कहानी का रूप दिया है। वह इस प्रकार है :—

ईस्वरत्व

"शेख़ बायज़ीद हज्ज (बड़ी तीर्थ-यात्रा) और उमरा (छोटी तीर्थयात्रा) के लिये मक्का जा रहा था।

जिस जिस नगर में जाता वह पहले वहाँ के महात्माओं की खोज करता।

—वह यहाँ-वहाँ घूमता और पूछता, 'शहर में ऐसा कौन है जो (दिव्य) अंतर्दृष्टि पर आश्रित है।'

ईश्वर ने कहा है—अपनी यात्रा में जहाँ कहीं तू जा; पहले तू महात्मा को खोज अवश्य कर। ख़ज़ाने की खोज में जा क्योंकि सांसारिक लाभ और हानि का नंबर दूसरा है। उन्हें केवल शाखाएँ समझ, जड़ नहीं।

उसने एक वृद्ध देखा जो नये चंद्र की भाँति झुका हुआ था, उसने उस मनुष्य में महात्मा का महत्व और गौरव देखा।

—उसकी आँखों में ज्योति नहीं थी, उसका हृदय सूर्य के समान जगमगा रहा था जैसे वह एक हाथी हो जो हिन्दुस्तान का स्वप्न देख रहा हो।

—आँखें बंद कर सुषुप्त बन वह सैकड़ों उल्लास देखता है। जब वह आँखें खोलता है, तो उन उल्लासों को नहीं देखता। ओह, कितना आश्चर्य है!

—नींद में न जाने कितने आश्चर्य-जनक-व्यापार दृष्टिगत होते हैं, नींद में हृदय एक खिड़की बन जाता है।

—जो जागता है और सुन्दर स्वप्न देखता है वह ईश्वर को जानता है। उसके चरणों की धूलि आँखों में लगाओ।

—वह बायजीद उसके सामने बैठ गया और उसने उसकी दशा के विषय में पूछा, उसने उसे साधू और गृहस्थ दोनों पाया।

उसने (वृद्ध मनुष्य ने) कहा—ओ बायज़ीद, तू कहाँ जा रहा है ? अपरिचित प्रदेश में किस स्थान पर अपनी यात्रा का सामान ले जा रहा है ?

—बायज़ीद ने कहा—प्रातः मैं काबा के लिए रवाना हो रहा हूँ "ये" दूसरे ने कहा—"रास्ते के लिए तेरे पास क्या सामान है ?"

—"मेरे पास दो सौ चाँदी के दिरहम हैं" उसने कहा—"देखो, वे मेरे अँगरखे के कोने में बँधे हैं।"

—उसने कहा—"सात बार मेरी परिक्रमा कर ले और इसे अपनी तीर्थ-यात्रा काबे की परिक्रमा से अच्छी समझ।"

—'और वे दिरहम मेरे सामने रख दे, ऐ उदार सज्जन ! समझ ले कि तूने काबा से अच्छी तीर्थ-यात्रा कर ली है और तेरी इच्छाओं की पूर्ति हो गई है।"

—"और तूने छोटी तीर्थ-यात्रा भी कर ली, अनंत जीवन की प्राप्ति कर ली। अब तू साफ़ हो गया।"

—"सत्य (ईश्वर) के सत्य से, जिसे तेरी आत्मा ने देख लिया है, मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि उसने अपने अधिवास से भी ऊपर मुझे चुन रखा है।"

—"यद्यपि काबा उसके धार्मिक कर्मों का स्थान है, मेरा यह आकार भी जिसमें मैं उत्पन्न किया गया था, उसके अंतरतम चित् का स्थान है।"

"जब से ईश्वर ने काबा बनाया है वह वहाँ नहीं गया। अमेरेरा इस मकान में चित् (ईश्वर) के अतिरिक्त कोई कभी नहीं गया।"

—"जब तूने मुझे देख लिया, तो तूने ईश्वर को देख लिया। तूने

पवित्रता के काबा की परिक्रमा कर ली है।"

—"मेरी सेवा करना, ईश्वर की आज्ञा मान कर उसकी कीर्ति बढ़ाना है। ख़बरदार, तू यह मत समझ कि ईश्वर मुझसे अलग है।"

—"अपनी आँख अच्छी तरह से खोल और मेरी ओर देख, जिससे तू मनुष्य में ईश्वर का प्रकाश देखे।"

बायज़ीद ने इन आध्यात्मिक वचनों की ओर ध्यान दिया। अपने कानों में स्वर्ण-बालियों की भाँति उन्हें स्थान दिया।

कबीर ने इसी भावना को निम्नलिखित पद्य में व्यक्त किया है :—

हम सब माँहि सकल हम माँही,
हम थें और दूसरा नाहीं।
तीन लोक में हमारा पसारा,
आवागमन सब खेल हमारा।
खट दरशन कहियत भेखा,
हमही अतीत रूप नहीं रेखा।
हम ही आप कबीर कहाया,
हमही अपना आप लखावा।

जब आत्मा परमात्मा की सत्ता में सब प्रकार से लीन हो जाती है तब उसमें एक प्रकार का मतवालापन आ जाता है। वह ईश्वर के नशे में दूर हो जाती है। संसार के साधारण मनुष्य जो उस मतवालेपन को नहीं जानते, उसकी हँसी उड़ाते हैं। वे उसे पागल समझते हैं। वे क्या जानें उसे मस्त बना देने वाले आध्यात्मिक मदिरा के नशे को जिसमें संसार को भुला देने की शक्ति होती है। रूमी ने ३४२६ वें और उसमें आगे के पद्यों में लिखा है :

'जब मतवाला व्यक्ति मदिरालय से दूर चला जाता है, वह बच्चों के हास्य और कौतुक की सामग्री बन जाता है। जिस रास्ते वह जाता है, कीचड़ में गिर पड़ता है, कभी इस ओर, कभी उस ओर। प्रत्येक मूर्ख उस पर हँसता है। वह इस प्रकार चला जाता है और उसके पीछे चलने वाले

बच्चे उस मतवालेपन को नहीं जानते और नहीं जानते उस मदिरा के स्वाद को।

सभी मनुष्य बच्चों के समान हैं, केवल वही नहीं है जो ईश्वर के पीछे मतवाला है। जो वासनामयी प्रवृत्ति से स्वतंत्र है, उसे छोड़ कर कोई भी बड़ा नहीं है।

इस मतवालेपन का वर्णन कबीर ने भी शक्तिशाली रेख़ते में किया है। वह इस प्रकार है :—

छका अवधूत मस्तान माता रहै
ज्ञान वैराग सुधि लिया पूरा,
स्वास उस्वास का प्रेम प्याला पिया
गगन गरजें तहाँ बजै तूरा।
पीठ संसार से नाम राता रहै
जातन जरना लिया सदा खेलैं,
कहै कबीर गुरु पीर से सुरखरु
परम सुख धाम तहँ प्रान मेलै।

इस ख़ुमार को वे लोग किस प्रकार समझ सकेंगे जिन्होंने "इश्क़ हक़ीक़ी", की शराब ही नहीं पी।

●

प्रकरण १३

सूफ़ियों का साधना-मार्ग

वेदान्त के सिद्धान्तों के अनुरूप सूफ़ीमत के सिद्धान्तों में भी ब्रह्म की अनुभूति साधकों के हृदय में अन्तःपक्ष से मानी गयी है। कर्मकाण्ड और आचार की विशिष्टता का उतना अधिक महत्व नहीं है, जितना हृदय की अनुभूति से आत्म-समर्पण का है। किन्तु यह कहना कि सूफ़ीमत में साधना-पक्ष का अभाव है, सत्य से दूर होगा। वह साधना-पक्ष क्या है? ब्रह्म की अनुभूति के लिए किन अवस्थाओं से होकर जाना पड़ता है, इस पर हम प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। पहले हम सूफ़ीमत के अनुसार ब्रह्म (ज़ाते वहत) की भावना पर विचार करते हैं।

सूफ़ीमत का ब्रह्म वेदान्त के ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार वेदान्त का ब्रह्म एक है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है (एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति), उसी प्रकार सूफ़ीमत में भी ब्रह्म एक है—वह 'हस्तिए मुतलक़' है। वह किसी भी रूप या आकार से रहित है। वह सर्वव्यापी है, किन्तु किसी वस्तु-विशेष में केन्द्रीभूत नहीं है। वह अगोचर और अज्ञेय है, वह असीम है। उसमें कोई परिवर्तन और विनाश नहीं है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्य नहीं है। अतः वह एकान्त रूप से एक ही है, और अन्य कोई सत्ता उसके समकक्ष नहीं है। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्म का जो ज्ञान होता है, वह किसी भौतिक साधन से न होकर आत्मानुभूति से ही होता है। हम ब्रह्म के अनन्त गुणों को जानकर ही उसके सम्बन्ध में अपनी कल्पना कर सकते हैं। उसके विभव में ही हम उसके लोकोत्तर रूप का अनुमान कर सकते हैं। इस रूप की भावना, जो केवल 'एक' के रूप में समझी गई है, सूफ़ीमत में 'जात' संज्ञा से अभिहित है। इस जात का परिचय उसकी 'सिफ़त' में है। यह 'सिफ़त' जात की वह शक्ति है,

जिससे वह सृष्टि की रचना करता है। सृष्टि की अनन्त रूपवाली समस्त सामग्री है 'सिफ़त', जिसके द्वारा हम 'ज़ात' की शक्तिमत्ता का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसे हम वेदान्त में 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनाभिव्यक्त-स्वरूपात्' के रूप में मान सकते हैं। तुलसी के शब्दों में 'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलम्' की भावना भी यही है। इतना होते हुए भी 'सिफ़त' 'ज़ात' से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है, किन्तु 'सिफ़त' ही 'ज़ात' नहीं है। 'सिफ़त' के अनेक रूप भिन्न होते हुए भी एक हैं। हम 'सिफ़त' को 'ज़ात' से उद्भूत गुण मान सकते हैं। जिस प्रकार किसी सुगन्धित पुष्प की सुगन्धि पुष्प से उद्भूत होते हुए भी पुष्प नहीं है, यद्यपि हम सुगन्धि और पुष्प को किसी प्रकार विभाजित नहीं कर सकते—फूल की भावना ही में सुगन्धि है और सुगन्धि की भावना में ही पुष्प का परिचय है; तथापि यह सब विज्ञान किसी प्रकार भी 'ज़ात' को सीमाबद्ध नहीं कर सकता। कबीर ने इसी भावना में सगुणवाद का विरोध करते हुए लिखा था—

> **जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।**
> **पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्व अनूप॥**

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म या 'ज़ात' का अस्तित्व हमें केवल उसकी 'सिफ़त' या सृष्टि करनेवाली शक्ति से ही ज्ञात होता है। यदि उसकी 'सिफ़त' हमारे समक्ष न हो तो हम उसकी वास्त-विक अनुभूति से वञ्चित रहेंगे। हम 'सिफ़त' को 'ज़ात' का एक 'प्रकट रूप' या 'अभिव्यक्ति' मानते हैं।

क़ुरानशरीफ़ के शब्दों में आत्मा या 'रूह' 'अमरे रब' या ब्रह्म की अनुज्ञा है। हदीस में लिखा हुआ है कि ज़ाते बहत ने (अथवा निर्गुण ब्रह्म ने) आत्मा को अपने रूप के अनुसार ही उत्पन्न किया है। किन्तु इसलिए कि ब्रह्म का कोई रूप नहीं है, आत्मा का रूप नहीं हो सकता। जिस प्रकार हम ब्रह्म की सत्यता का परिचय परोक्ष रूप में ही प्राप्त कर सकते हैं उसके किसी विशिष्ट आकार से परिचित नहीं हो सकते, उसी प्रकार

हम आत्मा के भी किसी रूप को नहीं जान सकते, क्योंकि उसका कोई रूप या आकार नहीं है। यह आत्मा एक है। जिस प्रकार सूर्य की किरणों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न जीवात्माओं में भी किसी प्रकार की भिन्नता नहीं हो सकती। प्रत्येक किरण में जिस प्रकार सूर्य दिखलाई दे सकता है (यद्यपि सम्पूर्ण सूर्य वहाँ नहीं है), उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में ब्रह्म का रूप प्रतिबिम्बित होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आत्मा वह दर्पण है, जिसमें ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है।

हमारे सामने अब यह प्रश्न उठता है कि इस सृष्टि का रहस्य क्या है ? क़ुरानशरीफ़ के अनुसार 'मा ख़लक़तल् इन्स व जिन्न इल्लाले आबदून' (मैंने नहीं पैदा किया मनुष्य और देवताओं को—सिवा इबादत के लिए) में ही सृष्टि-निर्माण का रहस्य है। अर्थात् ख़ुदा ने अपनी शक्ति से जिस सृष्टि का विधान किया है, उसके लिए स्वानुभूति के अतिरिक्त और कौन मार्ग हो सकता है ? जो सृष्टि ब्रह्ममय है, उसका स्वधर्म ही ब्रह्म को उपासना होना चाहिए। यही सिद्धान्त क़ुरानशरीफ़ का है। यदि ध्यान से देखा जाय तो सृष्टि-निर्माण के इस रहस्य में ही उपासना-मार्ग छिपा हुआ है। ख़ुदा या ब्रह्म की इबादत का तात्पर्य ही एक निश्चित साधना में है। अतः सूफ़ीमत में सिद्धि के अन्तर्गत ही साधना का मार्ग व्यञ्जित है। यह साधना दो रूप ग्रहण करती है—एक तो साधारण और दूसरा विशिष्ट। साधारण मार्ग में तो कुछ ही सिद्धान्त हैं, जो विधि और निषेध के अन्तर्गत हैं। करणीय और अकरणीय की आज्ञाओं में ही इस मार्ग की रूप-रेखा है। अवामिर (विधि) और नवाही (निषेध) का ही विधान इस साधारण साधना-पक्ष में है। यह मनुष्य-मात्र के साधारण धार्मिक जीवन के लिए आवश्यक है। कोई भी मनुष्य अपने अस्तित्व को तभी सफल मान सकता है, जब वह इन विधि और निषेधमय आदेशों के अनुसार अपने जीवन को सुचारु रूप से सञ्चालित कर सके। इस प्रकार के जीवन में संयम (रियाजत) की बड़ी आवश्यकता मानी गई है। साथ

ही आध्यात्मिकता के लिए जीवन को अधिक से अधिक अलौकिक सत्ता के समीप लाने की आवश्यकता है। इसके लिए ही 'नमाज़' की आयोजना है। दिन के पाँच भागों में जपने को ईश्वर के सम्पर्क में लाने के लिए 'नमाज' का विधान रक्खा गया है। यह आचरण उन लोगों के लिए अत्यन्त आवश्यक है जो संसार में जीवन व्यतीत करते हुए ईश्वरीय सत्ता की ओर आकर्षित हैं। अर्थात् इस प्रकार के व्यक्तियों के जीवन में सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के पक्ष हैं, किन्तु मनुष्य में एक वर्ग ऐसा भी है जो केवल आध्यात्मिक पक्ष में ही सन्तोष मानता है। उसके लिए लौकिक पक्ष का कोई मूल्य नहीं है। उसे संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं दीख पड़ती, जो उसे स्थायी सुख और शान्ति दे सके। इस वर्ग के लोग संसार को क्षणभंगुर मानते हैं, इसमें सुखों को मृगतृष्णा और इसकी आशाओं को इन्द्रधनुष की भाँति आधारहीन समझते हैं। उनके लिए संसार का अस्तित्व वास्तविक नहीं है। अतः लौकिल पक्ष उनके सामने कोई महत्व नहीं रखता। वे एकमात्र अलौकिक या आध्यात्मिक पक्ष की सार्थकता ही मानते हैं और इसी में उन्हें परम सुख और आनन्द की चरम प्राप्ति होती है। यह अलौकिक या आध्यात्मिक पक्ष ईश्वर के जप (ज़िक्र) या स्मरण में ही माना जाता है। यह स्मरण दो प्रकार से मान्य है—

१. ईश्वर के नाम और उसके गुणों का जाप इस प्रकार हो कि उससे समस्त जीवन ओत-प्रोत हो जाय। शरीर के प्रत्येक भाग में उसी अलौकिक सत्य का सञ्चार हो।[1]

२. साधक ईश्वरीय तत्व का चिन्तन दार्शनिक रूप से करे। वह आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करे और दोनों के स्वरूप-निर्धारण में लीन हो।

इन दो विभागों पर हम विस्तार से विचार करेंगे। इनके अन्तर्गत

---

१. हठयोग में इसी स्थिति को 'अजपा जाप' कहते हैं।

जप के अनेक रूप हैं। मनुष्य की जितनी साँसें हैं, उतने ही अधिक साधना के मार्ग हैं; किन्तु हम संक्षेप में कुछ ही मार्गों का निर्देश करेंगे।

तवज्जह (ध्यान)—इस साधना में गुरु (मुर्शिद) शिष्य (मुरीद) को अपने सामने घुटने मोड़कर बैठावे और स्वयं भी उसके सामने इसी प्रकार बैठे। फिर हृदय को समस्त भावनाओं से रहित एवं एकाग्र करके अल्लाह् का नाम १०१ साँस में अनुमान से शिष्य के हृदय पर अनुलेखित करे और यह विचार करे कि अल्लाह् के नाम का प्रभाव मेरी ओर से शिष्य के हृदय की ओर प्रेरित हो रहा है। इस प्रकार एक या अनेक प्रयोगों से शिष्य के हृदय में आलोक छा जायगा और उसके हृदय में जागृति इस प्रकार हो जायगी कि वह उपासना का पूर्ण अधिकारी बन सकेगा।

ज़िक्र जेहर—इस साधना का सम्बन्ध 'चिश्तिया वंश' से है[1] और यह साधना अधिकतर गोपनीय रक्खी जाती है। इसे तहज्जुद[2] के बाद ही व्यक्त कर सकते हैं। उसकी प्रार्थना यह है—'या अल्लाह, पाक कर मेरे दिल को अपने ग़ैर से और रौशन कर मेरे दिल को अपने पहचान के नूर से हमेशा, या अल्लाह, या अल्लाह, या अल्लाह।' इस साधना का यह ढंग है—साधक आलती-पालथी मारकर बैठे और दाहिने तथा बायें पैर के अँगूठे और उसके बराबर वाली अँगुली से पाँव के घुटने की जड़ में नीचे की तरफ़ 'रगे कीमास' को पकड़े (रगे कीमास का सम्बन्ध हृदय से है, उसे दबाने से हृदय में उष्णता उत्पन्न होती है)। बैठने में कमर को सीधा रखना चाहिये और मुख पश्चिम की ओर हो। दोनों हाथ जानुओं पर रक्खे और 'बिसमिल्ला' कहकर तीन बार कलमा 'ला इलाह इल्लिल्लाह' पढ़े, इसके बाद जानुओं की ओर इतना सिर झुकाये कि

---

१. सूफीमत के सिद्धान्त चार वर्ग (स्कूल) के हैं—चिश्तिया, क़ादरिया, सुहरावर्दिया और नक़्शबंदिया।

२. एक प्रकार की नमाज़, जो रात के बारह बजे के बाद पढ़ी जाती है।

माथा घुटने के पास पहुँच जावे और वहाँ से मधुर स्वर से 'ला इलाह' का आरम्भ करके सिर को दाहिने घुटने के ऊपर से लाते हुए दायें कंधे तक फिराता हुआ लाये और साँस को इतना रोके कि जितनी देर में तीन जरबें (अल्लाह के नाम का उच्चारण) लग सकती हैं। इसके बाद सिर को पीठ की ओर टेढ़ा करके ध्यान करे कि ईश्वर के अतिरिक्त जितने संकल्प-विकल्प हैं, वे सब मैंने पीठ के पीछे डाल दिये। इसके बाद सिर को बायीं तरफ की छाती की ओर झुकाकर, जहाँ हृदय का स्थान है, 'इल्लिल्लाह' कहे और यह विचार करे कि मैंने ईश्वरीय प्रेम को हृदय में भर लिया। ला इलाह को 'ज़िक्रे नफ़ी और इल्लिल्लाह को 'ज़िक्रे इसबात' कहते हैं। 'नफ़ी' के वक्त आँखें खुली रहनी चाहिए और 'इसबात' के समय बंद।

ज़िक्रे पासे अनफ़ास—इस साधना के अनेक रूप हैं, जिनमें केवल दो द्रष्टव्य हैं। पहला नफ़ी या इसबात का पासे अनफ़ास अर्थात् जब भीतर को साँस जाय तो 'ला इलाह' कहे और जब बाहर को साँस आये तो इल्लिल्लाह' कहे। सिर्फ़ साँस से यह उच्चारण हो, यहाँ तक कि समीप बैठे हुए व्यक्ति को भी यह ज्ञात न हो सके। (यह समस्त साधना करते समय प्रत्येक साँस में दृष्टि नाभि पर रहे और मुख बंद रहे)।

हब्जे दम—यह साधना समान रूप से सभी सूफ़ियों में मान्य है, विशेषकर चिश्ती और क़ादरी इस साधन के विशेष पक्ष में हैं। नक़्शबंदी इसे परमावश्यक तो नहीं मानते, पर वे इसकी उपयोगिता में विश्वास रखते हैं। यह साँस का अभ्यास है (हठयोग के प्राणायाम का रूप भी इसी प्रकार है)। मानसिक उन्नति के साथ यह शारीरिक उन्नति का भी मूल-मन्त्र है। इसके अभ्यास का ढंग यह है कि नाक और मुँह बंद करके साँस के रोकने की शक्ति बढ़ाई जावे।

शग़लें नसीर—यह ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की विशेष साधना है। इससे मानसिक व्याधियाँ दूर होती हैं। इसका प्रकार यह है कि सायं-प्रातः अपने जानुओं पर बैठकर मन को एकाग्र कर दोनों आँखों की दृष्टि

नासिका के अग्र भाग पर जमावे और निर्निमेष होकर देखे। इस दृष्टि में अपरिमित ज्योति का अनुमान करे। प्रारम्भ में नेत्र में पीड़ा हो सकती है, किन्तु अन्त में अभ्यास से साधना सरल हो जायगी।

शग़ले महमूदा—इस साधना में दृष्टि को भौंहों के बीच में जमाना चाहिए। यद्यपि यह साधना पहले कठिन जान पड़ती है, किन्तु इससे हृदय चैतन्य हो जाता है। पतञ्जलि के योगसूत्र में त्रिकुटी का विधान इसी प्रकार का है।

सुलतानुल अज़कार—इसके अनेक रूप हैं, किन्तु सबसे सरल रूप यह है कि आँख, नाक, कान, और मुख को हाथ की उँगलियों से बन्द करके साँस को नाभि से खींचे और मस्तक तक ले जावे। वहाँ उसे रोककर शक्ति के अनुसार कुम्भक करे। जब साँस को मस्तिष्क में स्थापित करे तो 'हू' कहे। 'हू' कहते समय आँख को हृदय की ओर स्थिर करे। जब कुम्भक में साँस की शक्ति घटने लगे तो उसे नाक के मार्ग से निकाल दे और इसी का पुनः अभ्यास करे। यह पहले एक या दो बार से प्रारम्भ कर अन्त में बहुत देर तक बढ़ाई जा सकती है।

शग़ले सौते सरमदी—इस साधना में आँख, नाक, कान और मुख को बंदकर ऊँचे स्थान से नीचे स्थान को गिरनेवाली जल-धारा के शब्द का अनुमान करे। इस अनुमान के साथ 'इस्मे ज़ात' (ईश्वर के नाम) पर ध्यान रक्खे। क्रमशः यह अनुमान सत्य में परिणत हो जायगा और वह आध्यात्मिक नाद सुन पड़ेगा; जो प्रत्येक साधक का आदर्श है। (योगशास्त्र में इसके समान ही 'अनहद नाद' की व्यवस्था है।)

मुरातबा[1]—यह एक विशेष साधना है जो अनुमान की शक्ति बढ़ाने और किसी वस्तु-विशेष के रूप को हृदयंगम करने के लिए की जाती है।

---

१. 'मुरातबा' गर्दन झुकाकर किया जाता है, अरबी ज़बान में 'रक़ब' गर्दन को कहते हैं। इसलिए इसका नाम 'मुरातबा' रक्खा गया है।

हर मुरातबे में जानुओं पर बैठना, गर्दन झुकाना, आँखें बन्द कर ध्यान करना आवश्यक है। अनेक मुराबतों में से नीचे एक मुरातबे का वर्णन किया जाता है। उससे अन्य मुरातबों का अनुमान किया जा सकता है।

मुरातबा इस्मे जात—इसका यह ढंग है कि वजू करके (जल से स्वच्छ होकर) पश्चिम की ओर बैठ जाय और 'बिस्मिल्ला' पढ़कर गर्दन झुकाकर 'इस्मे ज़ात' का ध्यान करे, यानी 'इस्मे अल्लाह' पर एकाग्रचित्त हो। इससे इन्द्रिय की चंचलता नष्ट होगी। यदि सांसारिक सम्बन्ध की ओर चित्त दौड़े तो अपने गुरु की ओर ध्यान एकाग्र करे। आरम्भ में इसके करने में कठिनाई होगी, किन्तु वह अभ्यास से धीरे-धीरे दूर हो जायगी और मन शान्त हो जायगा।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सूफ़ीमत के चार वर्गों के अनुसार (जिनका निर्देश ऊपर हो चुका है) साधना के अनेक रूप माने गये हैं, किन्तु यहाँ हमने मुख्य-मुख्य साधनाओं का निर्देश किया है, जो सभी वर्गों में मान्य हैं। इन साधनाओं पर दृष्टि डालकर सरलता से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूफ़ीमत का साधना-मार्ग हिन्दूधर्म के साधना-मार्ग के कितने अनुरूप है। दोनों धर्मों का दृष्टिकोण है कि बिना तपस्या और साधना के सांसारिक आकर्षण और मोह नष्ट नहीं हो सकते और आत्मा की अनन्त ज्योति की किरण दृष्टिगत नहीं होती, जिसके प्रकाश में साधक अपना साम्य परमात्मा से कर सकता है। आत्मा की शक्ति को विकसित कर उसे ईश्वरीय ज्योति से विभूषित करना ही इन साधनाओं का उद्देश्य है।

●

प्रकरण १४

आधुनिकता के सन्दर्भ में संत कबीर

इस देश के इतिहास में पन्द्रहवीं शताब्दी का महत्व बहुत अधिक है। इसी समय धर्म, समाज और राजनीति में एक सृजनात्मक क्रान्ति का बीजारोपण हुआ और जीवन के व्यावहारिक पक्ष में नये मूल्यों की उपयोगिता सामने आई। उस समय धर्म और समाज वर्गगत मनोवृत्तियों के सांचे में ढले हुए थे। परम्पराओं ने उन्हें कठोर हाथों से गढ़ा था और रूढ़ियों ने उन पर गहरा रंग चढ़ा दिया था। राजनीति पिघले हुए मोम की तरह शासकों के कोमल या कठोर स्पर्श से टेढ़े-मेढ़े रूप ग्रहण करती थी और शासितों के हृदय पर आतंक की छाप लगा देती थी। कभी-कभी वह राजनीति आंधी की तरह उठती और धर्म और समाज को झकझोरती हुई निकल जाती। धर्म और समाज दोनों ही अपनी पवित्रता और नैतिकता की रक्षा के लिए अपनी मान्यताओं को और भी दृढ़ करते जाते थे, जिससे उनमें कोई असामाजिक तत्व प्रवेश न कर सके। दूसरे शब्दों में धर्म और समाज धीरे-धीरे संकीर्ण होते जा रहे थे। वर्ग-भेद, समाज-भेद और धर्म-भेद की अलग-अलग इकाइयाँ बन रही थीं और आहार-व्यवहार और छुआछूत को लेकर ईर्ष्या और द्वेष सुरसा की भाँति अपना आकार बढ़ा रहे थे। हिन्दू और मुसलमान तथा ब्राह्मण और शूद्र के बीच खाइयाँ गहरी होती जा रही थीं, जिनको पाटना आसान नहीं था। यह विषमता क्रान्ति का आवाहन करती थी और सौभाग्य से उसी समय क्रान्ति का उद्घोष करने वाले महाकवि कबीर पूर्ण साहस और निर्भीकता से अवतरित हुए। कबीर ने रूढ़िबद्ध धार्मिक सिद्धान्तों और सामाजिक अन्ध-विश्वासों का खोखलापन दिखलाकर स्वस्थ मानवता के विकास के लिए समाज को निर्भीक होकर ललकारा। अपने क्रान्तिकारी

विचारों का प्रचार और प्रसार उन्होंने काव्य के माध्यम से ही किया। ऐसा काव्य जो जन-भाषा में लिखा जाकर शब्दों और साखियों के माध्यम से जनता के सभी वर्गों के लिए सहज रूप से ग्राह्य हो। संस्कारों और कर्मकाण्डों से मुक्त होकर धर्म का मूल रूप क्या है, अन्धविश्वासों और व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष से रहित होकर समाज का रूप क्या है, इस तथ्य को सामने लाना ही उनका प्रमुख ध्येय था। उनके द्वारा उद्घोषित सत्य काव्यरूपों में आन्दोलित होकर वायु-मंडल में गूँजा। वे जानते थे कि काव्य का प्रभाव रागात्मक वृत्तियों पर होता है और सामाजिक एवं धार्मिक विश्वासों का निकटतम सम्बन्ध रागात्मक वृत्तियों से है, इसलिए शास्त्रों की गूढ़ सिद्धान्तवादिता से हटकर धर्म की स्वाभाविक और सहज विचार-धारा को जनता में प्रवाहित करने के लिए उन्होंने काव्य का ही आश्रय लिया।

कवि की कला दो दृष्टियों से परिचालित होती है। पहली दृष्टि तो युग की परिस्थितियों और समस्याओं तक ही सीमित रह जाती है, दूसरी दृष्टि युग की परिस्थितियों और समस्याओं को सुलझाती हुई ऐसे सत्य का दर्शन कराती है जो मानवता के क्रोड़ में पोषित होकर उसे उदात्त और समृद्ध बनाती है। सन्त कबीर की दृष्टि इसी प्रकार की थी। उनके काव्य में युग की परिस्थितियाँ तो लक्षित होती ही हैं, साथ ही साथ वे देश-काल से ऊपर उठकर ऐसे क्षेत्र में पहुँचती हैं, जहाँ बिना किसी बन्धन और बाधा के मनुष्य मानवता के सत्य और सौन्दर्य को हृदयंगम कर सकता है। यही कारण है कि कबीर की रचनाएँ अपने युग की विषमताओं पर प्रहार करती हुई शाश्वत सत्य का उद्घोष करती हैं। वे आज भी उतनी ही नवीन और आकर्षक हैं, जितनी अपने युग में थीं।

जब हम आधुनिकता के सन्दर्भ में कबीर की रचनाओं का मूल्यांकन करते हैं तो लगता है कि कबीर को मनुष्य के स्वभाव की इतनी खरी पहिचान थी कि वे शताब्दियों बाद भी मनुष्य में होने वाली विकृतियों या परिणतियों को जानते थे और उनके निवारण के लिए वे स्वस्थ समाज

और आस्था-सम्पन्न धर्म की रूपरेखा खींच सकते थे। आज भी धर्म के नाम पर कितने अनाचार और अत्याचार होते हैं! समाज कितने वर्गों में बँट गया है! कबीर का मत है कि कर्मकाण्डों और आचार-पद्धतियों से धर्म बोझिल हो जाता है। अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों से समाज पंगु हो जाता है। यदि इन्हें हटा दिया जाय, तो सभी धर्म एक हो जायँगे। छोटे-छोटे समाज, वृहत् मानव-समाज में परिणत हो जायँगे। सभी धर्मों और सभी सामाजिक संगठनों का एक ही लक्ष्य है—एक ही सत्य है और वह है मानव-मात्र का कल्याण। सहज और सात्विक जीवन ही धर्म का सबसे बड़ा प्रतीक है। वे कहते हैं—

संतों सहज समाधि भली।
गुरु प्रसाद जा दिन ते उपजी, दिन-दिन अधिक चली।
जहँ-जहँ डोलों सों परिकरमा जो कछु करौं सो पूजा।
जब सोवों तब करौं दण्डवत पूजौं देव न दूजा॥

पवित्र जीवन का प्रत्येक कार्य धर्म की उपासना का ही रूप है। इसलिए कर्मकाण्डों और छद्मवेश पर वे कठोर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—

मन न रँगाए, रँगाए जोगी कपरा।
आसन मारि मंदिर में बैठे, नाम छाँड़ि पूजन लागे पथरा।
कनवा फड़ाय जोगी, जटवा बढ़ौलें, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।
कहत कबीर सुनौ भाइ साधो, जम दरवजवाँ बाँधल जैबे पकरा॥

हमारा देश धर्मनिरपेक्षता को लेकर चल रहा है। सच्चा धर्म आस्थामय है और इस दृष्टि से सभी धर्म समान हैं। हिन्दू और मुसलमान एक ही सत्य के दो रूप हैं। उनमें भिन्नता कैसी? कबीर दोनों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं:—

जो तुम बाह्मन बाह्मनि जाये। और राह तुम काहे न आये?
जो तूं तुरक तुरकनी जाया। पेटै काहे न सुनति कराया?

कारी पीरी दूहौ गाई। ताकर दूध देहु बिलगाई ॥

काली और पीली गाय का दूध एक ही है। मिल जाने पर क्या वह रंग-भेद से अलग किया जा सकता है ? जब हिन्दू और मुसलमान एक ही समाज के अंग हैं, तो उनमें भेद कैसा ? आज जाति-भेद के आधार पर लोग अपनी श्रेष्ठता घोषित करते हैं। कबीर ने सात्विक जीवन को केन्द्र मानकर कह दिया :

एक विन्दु ते विश्व रचौ है, को बाह्मन को सूद्रा ?

ब्राह्मण और शूद्र में एक ही रक्त है। जाति-भेद अथवा वर्ण-व्यवस्था तो मनुष्य ने बनायी है। प्रकृति ने प्रत्येक मनुष्य को एक-सी सम्भावनाओं के साथ उत्पन्न किया है। सभी मानव हैं और मानवता का अधिकार सभी के लिए मान्य और सुलभ है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति समझे कि उसका धर्म विश्व-धर्म है और उसका समाज मानव-समाज है। सभ्यता के निरन्तर विकास में जिन तथ्यों की घोषणा आज संसार में हो रही है, उनका उद्घोष पाँच सौ वर्षों पूर्व सन्त कबीर ने किया था : उन्होंने जीवन के सत्य को खोजने का आग्रह किया था। यदि इस सत्य की प्राप्ति हो जाय तो मानव समाज सुखी और विकासोन्मुखी हो जाय।

कबीर कहते हैं कि :—

यह जग अंधा मैं केहि समझावौं।
इक दुइ होंय तिन्हें समझावौं, सब ही भुलाना पेट के धंधा।
पानी के घोड़ा, पवन असवरवा ढरकि परै जस ओस के बुन्दा।
गहिरी नदिया अगम बहै धरवा खेवन हारा पड़िगा फन्दा ॥
घर की वस्तु निकट नहिं आवत, दियना बारि के ढूंढ़त अन्धा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बिन गुरु ज्ञान भटकिगा बन्दा ॥

इस प्रकार जनतंत्र और समाजवाद की लगभग सभी प्रवृत्तियों पर कबीर ने विस्तृत प्रकाश डाला है और उनकी वाणी उस समय गूँजी जब समाज और राजनीति निरंकुश होकर जन-जीवन को छिन्न-भिन्न कर रही थी।

आज भी जन-जीवन छिन्न-भिन्न हो रहा है। कबीर की वाणी इस समय भी जन-जन में गूंजनी चाहिए। कबीर द्वारा दी गई 'सब ही भुलाना पेट के धंधा' की चेतावनी हमें हृदयंगम करनी होगी। अपने काव्यगत सत्य के आधार पर कबीर विश्व-कवि तो माने ही जायँगे, हमारे देश की अधुनातम समस्याओं के समाधान-सूत्रों के सूत्रधार होने के कारण वे हमारे राष्ट्रीय कवि के रूप में भी मान्य होंगे।

●

प्रकरण १५

अनंत संयोग

(अवशेष)

इस प्रकार आत्मा और परमात्मा का संयोग हो जाता है। आत्मा बढ़ कर अपने को परमात्मा तक खींच ले जाती है। जरसन ने तो इसी के सहारे रहस्यवादी की मीमांसा की थी। उन्होंने कहा था—रहस्यवादी अभिव्यक्ति उसी समय होती है जब आत्मा प्रेम की अमूल्य निधि लिये हुए परमात्मा में अपना विस्तार करती है। पवित्र और उमंग भरे प्रेम से परिचालित आत्मा का परमात्मा में गमन ही तो रहस्यवाद कहलाता है।' डायोनिसस एक क़दम आगे बढ़कर कहते हैं: परमात्मा से आत्मा का अत्यंत गुप्त वाग्-विलास ही रहस्यवाद है।[1] डायोनिसस ने आत्मा को परमात्मा तक जाने का कष्ट ही नहीं दिया। उन्होंने केवल खड़े-खड़े ही आत्मा और परमात्मा में बातचीत करा दी।

इसी प्रकार रहस्यवाद की अन्य विलक्षण परिभाषाएँ हैं, जिनसे हम जान सकते हैं कि रहस्यवाद की अनुभूति भिन्न प्रकार से विविध रहस्य-वादियों के हृदय में हुई है।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने तो आत्मा और परमात्मा के मिलन में दोनों को उत्सुक बतलाया है। यदि आत्मा परमात्मा से मिलन चाहती है तो परमात्मा भी आत्मा से मिलने की इच्छा रखता है। वे इसी भाव को अपनी 'आवर्तन,' शीर्षक कविता में इस प्रकार लिखते हैं:—

धूप आपनारे मिलाइते चाहे गन्धे,
गन्धो शे चाहे धुपेरे रोहिते जुड़े।

---

१. स्टडीज इन मिस्टिसिज्म, लेखक ए० बेट,
पृष्ठ २७६

शूर आपनारे धोरा दिये चाहे छोंवे,
छोंव फिरिया छूटे लेते चाय शूरे ।
भाव येते चाय रूपेरे माझारे अङ्गों,
रूपो पेते चाय भावेरे माझारे छाड़ा ।
ओसीम शे चाहे शोमार निबिड़ शंगो,
शीमा चाय होते ओशीमेरे माझे हारा ।
प्रोलये अजने ना जानि न कार युक्ति,
भाव होते रूपे ओविराम जाओया आशा ।
बन्ध फिरछे खूजिया आपोन मुक्ति,
मुक्ति माँगिछे बाँधोनेर माझे बाशा ।

इसका अर्थ यही है कि—

धूप (एक सुगन्धित द्रव्य) अपने को सुगन्धि के साथ मिला देना चाहता है ।

गंध भी अपने को धूप के साथ संबद्ध कर देना चाहती है ।
स्वर अपने को छंद में समर्पित कर देना चाहता है,
छंद लौटकर स्वर के समीप दौड़ जाना चाहता है ।
भाव सौंदर्य का अंग बनना चाहता है,
सौंदर्य भी अपने को भाव की अंतरात्मा में मुक्त करना चाहता है ।
असीम ससीम का गाढ़ालिंगन करना चाहता है,
और सीमा असीम के बीच खो जाना चाहती है ।
मैं नहीं जानता कि प्रलय और सृष्टि किसका रचना-वैचित्र्य है,
भाव और सौंदर्य में अविराम विनिमय होता है ।
बन्ध अपनी मुक्ति खोजता फिरता है,
मुक्ति बंधन में अपने आवास की भिक्षा माँगता है ।

सभी रहस्यवादी समान प्रकार से परमात्मा का अनुभव नहीं कर सके । विविध मनुष्यों में मानसिक प्रवृत्तियाँ विविध प्रकार से पायी जाती हैं । जिन मनुष्यों की मानसिक प्रवृत्तियाँ अधिक संयत और अभ्यस्त होंगी वे

परमात्मा का ग्रहण एकान्त रूप में करेंगे, जिन मनुष्यों की मानसिक प्रवृत्तियाँ परिष्कृत न होंगी वे रहस्यवाद की अनुभूति अस्पष्ट रूप में करेंगे। जिनकी मानसिक प्रवृत्तियाँ संसार के बन्धन से रहित हो पवित्रता और पुण्य के प्रशांत वायुमंडल में विराजती हैं, वे ईश्वर के अनुभूति में स्वयं अपना अस्तित्व खो देंगे। इन्हीं प्रवृत्तियों के अन्तर के कारण परमात्मा की अनुभूति में अन्तर हो जाता है और इसीलिए रहस्यवाद की परिभाषाओं में अन्तर आ जाता है।

परमात्मा के संयोग में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। जब आत्मा परमात्मा में लीन होती है तो उसके चारों ओर एक दैवी वातावरण की सृष्टि हो जाती है और आत्मा परमात्मा की उपस्थिति अपने समीप ही अनुभव करने लगती है। परमात्मा संसार से परे है और आत्मा संसार से आबद्ध! इस संसारीय वातावरण में आत्मा को ज्ञात होने लगता है मानों समीप ही कोई बैठा हुआ शक्ति संचार कर रहा है। आत्मा चुपचाप उस रहस्यमयी शक्ति से साहस और बल पाती हुई इस संसार में स्वर्ग का अनुभव करती है। मारगेरेट ने मेरी रोलिन को जो पत्र लिखा था, उसका भावार्थ यही था :

"दिव्य त्राणकर्त्ता ने मुझसे कहा, मैं तुझे एक नई विभूति दूँगा। वह विभूति अभी तक दी हुई विभूतियों से उत्कृष्ट होगी। वह विभूति यही है कि मैं तेरी दृष्टि से कभी ओझल न होऊँगा। और विशेषता यह रहेगी कि तू सदैव मेरी उपस्थिति अनुभव करेगी।

मैं तो समझती हूँ, अभी तक उन्होंने अपनी दया से मुझे जितनी विभूतियाँ प्रदान की हैं, उन सभों से यह विभूति श्रेष्ठतम है। क्योंकि उसी समय से उस दिव्य परमात्मा की उपस्थिति अविराम रूप से मैं अनुभव कर रही हूँ। जब मैं अकेली होती हूँ तो वह दिव्य उपस्थिति मेरे हृदय में इतनी श्रद्धा उत्पन्न करती है कि मैं अभिवादन के लिए पृथ्वी पर गिर पड़ती हूँ, जिससे मैं अपने त्राणकारी ईश्वर के सामने अपने को अस्तित्वहीन कर दूँगी। मैं यह भी अनुभव करती हूँ कि ये सब विभूतियाँ

अटल शांति और उल्लास से पूर्ण हैं।"[१]

इस पत्र से यह ज्ञात होता है कि उत्कृष्ट ईश्वरीय विभूतियों का लक्षण ही यही है कि उसमें परमात्मा के सामीप्य का परिचय उसी क्षण मिल जाय। उस समय आत्मा की क्या स्थिति होती है? वह आनन्द में विभोर होकर परमात्मा की शक्तियों में अपना अस्तित्व मिला देती है; वह उत्सुकता से दौड़ कर परमात्मा की दिव्य उपस्थिति में छिप जाती है। उस समय उसकी प्रसन्नता, उत्सुकता और आकांक्षा की परिधि इन काले अक्षरों के भीतर नहीं आ सकती। विलियम राल्फ़ इंज ने अपनी पुस्तक 'पर्सनल आइडियलिज्म एंड मिस्टिसिज्म' में उस दशा के वर्णन करने का प्रयत्न किया है:—

"इस दिव्य विभूति और शांति के दर्शन का स्वागत करने के लिए आत्मा दौड़ जाती है, जिस प्रकार बालक अपने पिता के घर को पहिचान कर उसकी ओर सहर्ष अग्रसर होता है।"[२]

कोई बालक अपने पिता के घर का रास्ता भूल जाय, वह यहाँ वहाँ भटकता फिरे, उसे कोई सहारा न हो, उसी समय उसे यदि पिता के घर का रास्ता मिल जाय अथवा पिता का घर दीख पड़े तो उसके हृदय में कितनी प्रसन्नता होगी! उसी स्थिति की प्रसन्नता आत्मा में होती है, जब वह अपने पिता के समीप पहुँचने का द्वार पा जाती है।

उस स्थिति में उसके हृदय की तंत्री झनझना उठती है।। रोम से— प्रत्येक रोम से एक प्रकार की संगीत-ध्वनि निकला करती है। वह संगीत उसके यश में, उसी आदि-शक्ति के दर्शन-सुख में, उत्पन्न होता है

---

१. दि प्रेसेज ऑव् इंटीरियर प्रेयर—पुलेन, पृष्ठ ८५

२ The human soul leaps forward to greet this vision of glory and harmony, as a child recognises and greets his father's house.

पर्सनल आइडियलिज्म, पृष्ठ १६

और आत्मा के संपूर्ण भाग में अनियंत्रित रूप से प्रवाहित होने लगता है। यही संगीत मानों आत्मा का भोजन है। इसीलिए सूफ़ियों ने इस संगीत का नाम मिज़ाये रुह रक्खा है। इसी के द्वारा आध्यात्मिक प्रेम में पूर्णता आती है। यह संगीत आध्यात्मिक प्रेम की आग को और भी प्रज्ज्वलित कर देता है और इसी तेज से आत्मा जगमगा उठती है।

इस संगीत में परमात्मा का स्वर होता है। उसी में परमात्मा के अलौकिक प्रेम का प्रकाशन होता है। इसलिए शायद लियोनार्ड (१८१६—१८८७) ने कहा था :—

"मेरे स्वामी ने मुझसे कहा था कि मेरे प्रेम की ध्वनि तुम्हारे कान में प्रतिध्वनित होगी। उसी प्रकार, जिस प्रकार मेघ से गर्जन की ध्वनि गूँज जाती है। दूसरी रात में, वास्तव में, अलौकिक प्रेम के तूफ़ान का प्रकोप (यदि इस शब्द में कुछ वैषम्य न हो) मुझ पर बरस पड़ा। उसका तीव्र वेग, जिस सर्वशक्ति से उसने मेरे सारे शरीर पर अधिकार जमा लिया, अत्यन्त गाढ़ और मधुर आलिंगन, जिससे ईश्वर ने आत्मा को अपने में लीन कर लिया, संयोग के किसी अन्य हीन रूप से समता नहीं रखता।"

लियोनार्ड ने इसे 'तूफ़ान के प्रकोप' से समता दी है। वास्तव में उस समय प्रेम इतने वेग से शरीर और मन पर आक्रमण करता है कि उससे वे एक ही बार निस्तब्ध होकर शिथिल हो जाते हैं। उस समय उस शरीर में केवल एक ही भावना का प्रवाह होता है। शरीर की शक्तियों में केवल एक ही ज्योति जागृत रहती है और वह ज्योति होती है अलौकिक प्रेम के प्रबल आवेग की। यह आवेग किसी भी सांसारिक भावना के आवेग से सदैव भिन्न है। उसका कारण यह है कि सांसारिक भावना का आवेग क्षणिक होता है और उसकी गहरायी कम होती है। यह अलौकिक आवेग स्थायी रहता है और उसकी भावना इतनी गहरी होती है कि उससे शरीर की सभी शक्तियाँ ओत-प्रोत हो जाती हैं। उसका वर्णन 'तूफ़ान के प्रकोप' द्वारा ही किया जा सकता है, किसी अन्य

शब्द द्वारा नहीं।

उस प्रेम के प्रबल आक्रमण में एक विशेषता रहती है जिसका अनुभव टामसन ने पूर्ण रूप से किया था। उसने 'आन दि साइट एंड एस्पेशली आन दि कानटैक्ट विथ दि सावरेन गुड'[१] वाले परिच्छेद में लिखा था कि हम ईश्वर को हृदयंगम करते हैं अपने आंतरिक और रहस्यमय स्पर्श द्वारा। हम यह अनुभव करते हैं कि वह हम में विश्राम कर रहा है। यह आंतरिक (अथवा उसे दिव्य भी कह सकते हैं) संबंध बहुत ही सूक्ष्म और गुप्त कला है और हम अनुभव द्वारा ही जान सकते हैं, बुद्धि द्वारा नहीं।

जब आत्मा को यह अनुभव होने लगता है कि परमात्मा मुझमें विश्राम कर रहा है तो उसमें एक प्रकार के गौरव की सृष्टि हो जाती है। जिस प्रकार एक दरिद्र के पास सौ रुपये आ जाने पर वह उन्हें अभिमान तथा गर्व से देखता है, उनकी रक्षा करता है। स्वयं उपभोग नहीं करता वरन् उन्हें देख-देख कर ही संतोष कर लेता है, ठीक उसी प्रकार, आत्मा परमात्मा रूपी धन को अपनी अन्तरंग भावनाओं में छिपाये, संसार में गर्व और अभिमान से रहती है तथा संसार के मनुष्यों की हँसी उड़ाती है, उन्हें तुच्छ गिनती है। ऐसी अवस्था में एक अंतर रहता है। गरीब का धन जड़ होता है, उसमें बोलने अथवा अनुभव करने की शक्ति ही नहीं होती, पर परमात्मा की बात दूसरी है। वह प्रेम के महत्त्व को जानता है तथा उसे अनुभव करता है। उसमें भी प्रेम का प्रबल प्रवाह होता है, वह भी आत्मा के संयोग से सुखी होता है। उस समय जब आत्मा और परमात्मा की सत्ता एक हो जाती है तो परमात्मा आत्मा में प्रकट होकर संसार में घोषित करने लगता है :—

मुझको कहाँ ढूँढ़ै बंदे
मैं तो तेरे पास में।' **(कबीर)**

---

१. पुलेन रचित, दि ग्रेसेज ऑव् इंटीरियर प्रेयर, पृष्ठ १०७

परिशिष्ट

क

रहस्यवाद से सम्बन्ध रखनेवाले कबीर के कुछ चुने हुए पद

चलौ सखी जाइये तहाँ, जहाँ गये पाइयैं परमानंद।

यहु मन आमन घूमना,
मेरौ तन छीजत नित जाइ।
चिंतामणि चित्त चोरियौ,
ताथें कछु न सुहाइ।
सुन सखि सुपने की गति ऐसी,
हरि आये हम पास
सोवत हीय जगाइया,
जागत भये उदास।
चलु सखी बिलम न कीजिये,
जब लगि सांस सरीर,
मिलि रहिये जगनाथ सूं,
यूँ कहैं दास कबीर।

वाल्हा आव हमारे गेह रे
तुम बिन दुखिया देह रे।
सब को कहै तुम्हारी नारी
मोकों इहै अदेह रे,
एकमेक ह्वै सेज न सोवै
तब लग कैसा नेह रे।
अंन न भावै, नींद न आवै
ग्रिह बन धरै न धीर रे,
ज्यूं कामी कों काम पियारा,
ज्यूं प्यासे कूं नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपकारी,
हरिसूं कहै सुनाइ रे,
ऐसे हाल कबीर भये हैं,
बिन देखें जिय जाय रे।

वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है,
मिलिबौ अंग लगाइ।
हौं जानूँ जे हिलमिल खेलूँ
तन मन प्रान समाइ,
या कामना करौ परपूरन,
समरथ हौ राम राइ।
माँहि उदासी माधौ चाहै,
चितवत रैन बिहाइ,
सेज हमारी सिंध भई है,
जब सोऊँ तब खाइ।
यहु अरदास दास की सुनिये,
तन की तपति बुझाइ,
कहै कबीर मिलै जे सांई,
मिलि करि मंगल गाइ।

दुलहिनी गावहु मंगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भतार।
तन रत करि मैं मन रति करि हूँ,
पंच तत्त बराती,
रामदेव मोरे पाहुने आये,
मैं जोबन मैंमाती।
सरीर सरोवर वेदी करि हूँ
ब्रह्मा बेद उचार,
रामदेव संगि भांवर लेहूँ,
धनि धनि भाग हमार।
सुर तैंतीसूँ कौतिग आये,
मुनिवर सहस अठासी,
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं,
पुरिष एक अविनासी।

हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सके मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया,
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।
किया स्यंगार मिलन के तांई,
काहे न मिलो राजा राम गुसांई।
अब की बेर मिलन जो पाऊँ
कहै कबीर भौजल नहिं आऊँ।

किया सिंगार मिलन के तांई,
हरि न मिले जग जीवन गुसांई।
हरि मेरो पिय हौं हरि की बहुरिया,
राम बड़े मैं तनक लहुरिया।
धनि पिय एकै संग बसेरा,
सेज एक पै मिलन दुहेरा।
धन्न सुहागिन जो पिय भावै,
कहि कबीर फिर जनमि न आवै।

अवधू ऐसा ज्ञान विचारी
ताथें भई पुरिष थें नारी।
नां हूँ परनी ना हूँ क्वांरी
पूत जन्यू द्यौ हारी,
काली मूड़ कौ एक न छोड्यो
अजहुँ अकन कुवांरी।
ब्राह्मन कै ब्रह्मनेटी कहियो
जोगी कै घरि चेली,
कलिमा पढ़ि पढ़ि भई तुरकनी
अजहूँ फिरों अकेली।
पीरहि जाऊँ न रहूँ सासुरै
पुरषहि अंगि न लाऊँ,
कहै कबीर सुनहु रे सन्तो
अंगहि अंग न छुवाऊँ।

मैं सासने पीव गौंहनि आई
सांई संग साध नहीं पूगी
गयो जोबन सुपिना की नांई।
पंच जना मिलि मंडप छायो
तीनि जनां मिलि लगन लिखाई,
सखी सहेली मंगल गावें
सुख दुख माथै हलद चढ़ाई।
नाना रंगैं भांवरि फेरी
गांठि जोरि बैठे पति ताइँ,
पूरि सुहाग भयो बिन दूल्हा
चौक के रंगि धर्‌यो सगौ भाई।
अपने पुरिष मुख कबहु न देख्यो
सती होत समझी समझाई,
कहै कबीर हूँ सर रचि मरिहूँ
तिरौं कन्त लै तूर बजाई।

कब देखूं मेरे राम सनेही,
जा बिन दुख पावै मेरी देही।
हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वामी,
कब रे मिलहुगे अंतरयामी।
जैसे जल बिन मीन तलपै,
ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै।
निस दिन हरि बिन नींद न आवै,
दरस पियासी राम क्यों सचुपावै।
कहै कबीर अब बिलंब न कीजै
अपनों जानि मोहि दरसन दीजै।

हरि कौ बिलोवनौं बिलोइ मेरी माई,
ऐसौ बिलोइ जैसे तत न जाई।
तन करि मटकी मनहिं बिलोइ,
ता मटकी में पवन समोइ।
इला प्यंगुला सुषमन नारी,
वेगि बिलोइ ठाढ़ी छछिहारी।
कहै कबीर गुजरी बौरानी
मटकी फूटी जोति समानी।

भलैं नींदौ भलैं नींदौ भलैं नींदो लोग
तन मन रांम पियारे जोग।
मैं बौरी मेरे राम भतार,
ता कारनि रचि करौं सिंगार।
जैसे धुबिया रज मल धोवै,
हर तप रत सब निंदक खोवै।
निंदक मेरे माई बाप,
जन्म जन्म के काटे पाप।
निंदक मेरे प्रान अधार,
बिन बेगारि चलावै भार
कहै कबीर निंदक बलिहारी,
आप रहै जन पार उतारी।

जो चरखा जरि जाय बढ़ैया न मरै।
मैं कातों सूत हजार चरखुला जिन जरै।
बाबा मोर ब्याह कराव अच्छा बरहि तकाय,
जो लौं अच्छा वर न मिलै तौ लौं तुमहिं बिहाय।
प्रथमें नगर पहूँचते परि गौ सोग संताप,
एक अचंभा हम देखा जो बिटिया ब्याहल बाप।
समधी के घर समधी आए आए बहू के भाय,
गोड़े चूल्हा दै दै चरखा दियो दिढ़ाय,
देव लोक मर जायँगे एक न मरै बढ़ाय,
यह मन रंजन कारणे चरखा दियो दिढ़ाय,
कहहि कबीर सुनौ हो संतो चरखा लखै जो कोय,
जो वह चरखा लखि परै ताको आवागमन न होय।

परौसनि मांगे कंत हमारा।
पीव क्यूँ बौरी मिलही उधारा।
मासा मांगे रती न देऊँ
घटै मेरा प्रेंम तो कासनि लेऊँ।
राखि परोसनि लरिका, मोरा,
जे कछु पाउं सु आधा तोरा।
बन बन ढूँढ़ौं नैन भरि जोऊँ,
पीव न मिलै तो बिलखि करि रोऊँ।
कहै कबीर यहु सहज हमारा,
बिरली सुहागिन कंत पियारा।

हरि ठग जग की ठगौरी लाई।
हरि के वियोग कैसे जीऊँ मेरी माई।
कौन पुरिष को का की नारी,
अभिअंतर तुम्ह लेहु बिचारी।
कौन पूत को का को बाप,
कौन मरे कौन करे संताप।
कहै कबीर ठग सौं मन माना,
गई ठगौरी ठग पहिचाना।

को बोनै प्रेम लागौ री, माई को बीनै।
राम रसायन माते री, माई को बीनै।
पाई पाई तू पुतिहाई
पाई की तुरिया बेच खाई री, माई को बीनै।
ऐसे पाई पर बिथुराई,
त्यूं रस आनि बनायो री, माई को बीनै।
नाचै ताना नाचै बाना,
नाचै कूंच पुराना री, माई को बीनै।
करगहि बैठि कबीरा नाचै,
चूहै काट्या ताना री, माई को बीनै।

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये
भाग बड़े घर बैठे आये।
मंगलचार मांहि मन राखों;
राम रसायन रसना चाखों।
मंदिर मांहि भया उजियारा,
लै सूती अपना पीव पियारा।
मैं रे निरासी जे निधि पाई,
हमहिं कहा यहु तुमहिं बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हा,
सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा।

अब मोहिं ले चल नणद बीर,
अपने देसा ।
इन पंचन मिलि लूटी हूँ
कुसंग आहि बिदेसा ।
गंग तीर मोरि खेती बारी
जमुन तीर खरिहाना,
सातों बिरही मेरे नीपजे
पंचूँ मोर किसाना ।
कहै कबीर यहु अकथ कथा है
कहतां कही न जाई,
सहज भाइ जिहि ऊपजै
ते रमि रहै समाई ।

मेरे राम ऐसा खीर बिलोइयै
गुरु मति मनुवा अस्थिर राखहु
इन विधि अमृत पिओइयै।
गुरू कै बाणि बजर कल छेदी
प्रगट्या पद परगासा,
शक्ति अधेर जेवड़ी भ्रम चूका
निहचल सिव घर वासा।
तिन विनु बाणौं धनुष चढ़ाइयै
इहु जग बेध्या भाई,
दह दिसि बूड़ी पवन झुलावै
डोरि रही लिव लाई।
उनमन मनुवा सुन्नि समाना
दुविधा दुर्मति भागी,
कहु कबीर अनुभौ इकु देख्या
राम नाम लिव लागी।

उलटि जात कुल दोऊ बिसारी,
सुन्न सहज महि बुनत हमारी।
हमारा झगरा रहा न कोऊ,
पंडित मुल्ला छाड़ै दोऊ,
बुनि बुनि आप आप पहिरावों,
जहं नहीं आप तहाँ ह्वै गावों।
पंडित मुल्ला जो लिखि दीया,
छांड़ि चले हम कछू न लीया,
रिदै खलासु निरखि ले मीरा,
आपु खोजि खोजि मिलै कबीरा।

जन्म मरन का भ्रम गया गोविन्द लव लागी।
जीवन सुन्न समानिया
गुरु साखी जागी।
कासी ते धुनि उपजै
धुनि कासी जाई,
कासी फूटी पंडिता
धुनि कहां समाई।
त्रिकुटी संधि मैं पेखिया
घटहू घट जागी,
ऐसी बुद्धि समाचारी
घट माँहि तियागी।
आप आपते जानिया
तेज तेज समाना,
कहु कबीर अब जानिया
गोविन्द मन माना।

गगन रसान चुए मेरी भाठी।
संचि महारस तन भय काठी।
वाकौ कहिए सहज मतिवारा,
जीवत राम रस ज्ञान विचारा।
सहज कलालनि जौ मिलि आई।
आनंदि माते अनदिन जाई।
चीन्हत चीत निरंजन लाया,
कहु कबीर तौ अनुभव पाया।

अब न बसूं इहि गांइ गुसांई,
तेरे नेवगी खरे सयाने हो राम।
नगर एक यहां जीव धरम हता
बसैं जु पंच किसाना,
नैनूं नकटू श्रवनूं रसनूं
इन्द्री कह्या न माने हो राम।
गांइकु ठाकुर खेत कुनापै
काइथ खरज न पारै
जौरि जेवरी खेति पसारै
सब मिलि मोको मारै हो राम।
खोटो महतो बिकट बलाही
सिर कसदम का पारै
बुरौ दिवान दानि नहिं लागै
इक बांधैं इक मारै हो राम।
धरम राइ जब लेखा मांगा
बाकी निकसी भारी,
पांचि किसाना भाजि गये हैं
जीव धर बांध्यो पारी हो राम!
कहै कबीर सुनहु रे संतो
हरि भजि बांध्यो भेरा,
अब की बेर बकसि बंदे कों
सब खत करौं निबेरा।

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ़ा मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ग्यांन ध्यान कर महूवा
भव भाठी कर भारा,
सुषमन नारी सहज समानी
पीवै पीवन हारा।
दोई पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी
चुया महा रस भारी,
काम क्रोध दोइ किया पलीता
छूटि गई संसारी।
सुन्नि मंडल में मंदला बाजै
तहां मेरा मन नाचै,
गुर प्रसादि अमृत फल पाया
सहजि सुषमना काछै।
पूरा मिल्या तबैं सुष उपज्यो
तन की तपति बुझानी,
कहै कबीर भव बंधन छूटै
जोतिहि जोति समानी।

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै
　　　　　　बंक नालि रस पीजै।
　मूल बांधि सर गगन समाना
　　　　　　सुषमन यों तन लागी,
　काम क्रोध दोउ भया पलीता
　　　　　　तहां जोगिनी जागी।
　मनवां जाइ दरीबे बैठा
　　　　　　मगन भया रसि लागा,
　कहै कबीर जिय संसा नाहीं
　　　　　　सबद अनाहद जागा।

कोई पीवै रे रस राम नाम का, जो पीवै सौ जोगी रे।
संतो सेवा करो राम की और न दूजा भोगी रे।
यहु रस तौ सब फीका भया
ब्रह्म अगनि परजारी रे,
ईश्वर गौरी पीवन लागे राम तनो मतवारी रे!
चंद सूर दोउ भाठी कीन्हीं सुषमनि-त्रिगवा लागी रे,
अमृत कूंपी सांचा पुरया मेरी त्रिष्णा भागी रे।
यहु रस पीवै गूंगां गहिला ताकी कोई बूझै सार रे।
कहै कबीर महा रस महंगा कोई पीवैगा पीवनि हार रे।

दूभर पनिया भर्‌या न जाई।
अधिक त्रिषा हरि बिन न बुझाई।
ऊपर नीर लेज तलिहारी,
कैसे नीर भरै पनिहारी।
उधर्‌यो कूप घाट भयो भारी,
चली निरास पंच पनिहारी।
गुर उपदेस भरीले नीरा,
हरषि हरषि जल पीवै कबीरा।

लावौ बाबा आगि जलावो घरा रे।
ता कारनि मन धंधौ परा रे
इक डांइनि मेरे मन में बसे रे,
नित उठि मेरे जीय कों डसे रे।
ता डाइनि के लरिका पांच रे,
निसि दिन मोहि नचावत नाच रे।
कहै कबीर हूँ ताकौं दास
डांइनि कै संग रहै उदास।

रे मन बैठि कितै जिनि जासी।
हिरदै सरोवर है अविनासी।
काया मधे कोटि तीरथ
काय मधे कासी।
काया मधे कंवलापति
काय मधे बैकुंठवासी
उलटि पवन षटचक्र निवासी
तीरथराज गंग तट वासी
गगनमंडल रवि ससि दोई तारा
उलटी कूंची लाग किवारा।
कहै कबीर भयो उजियारा
पंच मारि एक रह्यो निनारा

सरवर तटि हंसिनीं तिसाई।
जुगति बिना हरि जल पिया न जाई।
पिया चाहै तौ लै खग सारी,
उड़ि न सकै दोऊ पर भारी।
कुंभ लियैं ठाढ़ी पनिहारी,
गुण बिन नीर भरै कैसे नारी।
कहै कबीर गुर एक सुधि बताई,
सहज सुभाइ मिले राम राई।

बोलौ भाई राम की दुहाई।
इहि रस सिव सनकादिक माते, पीवत अजहु न अघाई।
इला प्यंगला भाठी कींही ब्रह्म अगनि परजारी,
ससिहर सूर द्वार दस मूँदे, लागी जोग जुग तारी।
मति मतवाला पीवैं राम रस, दूजा कछु न सुहाई,
उलटी गंगा नीर कहि आया अमृत धार चुवाई।
पंच जने सो संग करि लींहे, चलत खुमारी लागी,
प्रेम पियाले पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी।
सहज सुंन्नि में जिन रस चाख्या, सतगुरु थैं सुधि पाई,
दास कबीर इहि रसि माता, कबहूँ उछकि न जाई।

विष्णु ध्यान सनान करि रे
बाहरि अंग धोइ रे।
सांच बिन सीझसि नहीं
कोई ज्ञान दृष्ट जोइ रे।
जंजला मांहें जीव राखै
सुधि नहीं सरीर रे,
अभिअंतरि भेदै नहीं
कोइ बाहिर न्हावै नीर रे।
निहकर्म नदी ज्ञान जल
सुन्नि मंडल मांहि रे,
औधूत जोगी आतमां
कोई पेड़ै संजमि न्हानि रे।
इला प्यंगुला सुषमनां
पछिम गंगा बालि रे,
कहै कबीर कुसमल झड़ैं
कोई मांहि लौ अंग पषालि रे।

जो जोगी जाकै सहज भाइ,
　　　　अकल प्रीति की भीख खाइ।
सबद अनाहद सींगी नाद,
　　　　काम क्रोध विषिया न बाद।
मन मुद्रा जाकै गुरु कौ ज्ञान,
　　　　त्रिकुट कोट में धरत ध्यान।
मनहीं करन को करै सनान,
　　　　गुरु को सबद लै धरै ध्यान।
काया कासी खोजै वास।
　　　　तहाँ जोति सरूप भयौ परगास।
ग्यान मेषली सहज भाइ,
　　　　बंक नालि कौ रस खाइ।
जोग मूल को देह बंद,
　　　　कहि कबीर थिर होइ कंद।

जङ्गल में का सोवना, औघट है घाटा।
स्यंघ बाघ गज प्रजल्लै, अरु लंबी बाटा।
निसि बासुरी पेंड़ा पड़ै
जमदांनी लूटै,
सूर धीर साचै मतै
सोई जन छूटै।
चालि चालि मन माहरा
पुर पटन गहिये,
मिलिये त्रिभुवन नाथ सों
निरभै होइ रहिए।
अमर नहीं संसार में
बिनसै नर देही,
कहै कबीर बेसास सूं
भजि राम सनेही।

राम बिन तन की ताप न जाई
जल की अगिन उठी अधिकाई ।
तुम्ह जलनिधि मैं जल कर मीना,
जल मैं रहों जलहिं बिन छीना ।
तुम्ह पिंजरा मैं सुबना तोरा,
दरसन देहु भाग बड़ मोरा ।
तुम्ह सतगुर मैं नौतम चेला,
कहै कबीर राम रमूं अकेला ।

राम बान अन्ययाले तीर ।
जाहि लागे सो जाने पीर ।
तन मन खोजों चोट न पाऊं ।
औषद मूली कहाँ घसि लाऊं ।
एकहि रूप दीसे सब नारी,
न जानो को पियहि पियारी ।
कहै कबीर जा मस्तक भाग
न जानूं काहू देइ सुहाग ।

भंवर उड़े बग बैठे ग्राई
रैन गई दिवसो चलि जाई।
हल हल काँपे बाला जीव,
ना जानों का करि है पीव।
काँचे बासन टिकै न पानी,
उड़िगै हंस काया कुंभिलानी।
काग उड़ावत भुजा पिरानी,
कहहि कबीर यह कथा सिरानी।

देखि देखि जिय अचरज होई।
यह पद बूझै बिरला कोई।
धरती उलटि अकासै जाय,
चिउंटी के मुख हस्ति समाय।
बिना पवन सो पर्वत उड़े,
जीव जन्तु सब वृक्षा चढ़े।
सूखे सरवर उठे हिलोरा,
बिनु जल चकवा करत किलोरा।
बैठा पंडित पढ़े पुरान,
बिन देखे का करत बखान।
कहहि कबीर यह पद को जान,
सोई संत सदा परबान।

मैं सबनि में औरनि में हूँ सब
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो।
कोई कहौ कबीर कोई राम राई हो।
ना हम बार बूढ़ नांहीं हम
ना हमरे चिलकाई हो,
पठरा न जाऊँ अरबा नहीं आंऊँ
सहजि रहूँ हरिभाई हो।
ओढ़न हमरे एक पछेवरा
लोक बोलैं इकताई हो,
जुलहै तनि बुनि पांन न पावल
बारि बुनी दस ठाई हो।
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल
तब हमरौ नांउ राम राई हो,
जग मैं देखौं जग न देखै मोहीं
इहि कबीर कछु पाई हो।

अब मैं जाणि बौरे केवल राइ की कहानी।
मंझा जोति राम प्रकासै
गुर गमि वाणीं।
तरबर एक अनंति मूरति
सुरता लेहु पिछाणीं,
साखा पेड़ फूल फल नांहीं
ताकी अमृत बाणी।
पुहप वास भँवरा एक राता
बारा ले उर धरिया,
सोलह मंझै पवन झकोरै
आकासे फल फलिया।
सहज समाधि बिरष यहु सींचा
धरती जलहर सोष्या,
कहै कबीर दास मैं चेला
जिनि यहु तरवर पेष्या।

अवधू, सो जोगी गुरु मेरा,
जो या पद का करे निबेरा।
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा
बिन फूला फल लागा,
साखा पत्र कछू नहीं बाके
अष्ट गगन मुख बागा।
पैर बिन निरति करां बिन बाजे
जिभ्या हींणा गावै,
गावणहारे कै रूप न रेषा
सतगुरु होइ लखावै।
पंखी का खोज, मीन का मारग
कहै कबीर बिचारी,
अपरंपार पार परसोतम।
वा मूरति की बलिहारी।

अजहूँ बीच कैसे दरसन तोरा,
बिन दरसन मन मानें क्यों मोरा।
हमहि कुसेवग क्या तुम्हहि अजांनां,
दुइ मैं दोस कहौ किहै रांमां।
तुम्ह कहियत त्रिभुवन पति राजा,
मन वांछित सब पुरवन काजा।
कहै कबीर हरि दरस दिखाओ,
हमहिं बुलाओ कै तुम्ह चलि आओ।

आऊँगा न जाऊँगा मरूँगा न जिऊँगा।
गुरु के सबद मैं रमि रमि रहूँगा।
आप कटोरा आपै थारी,
आपै पुरखा आपै नारी।
आप सदाफल आपै नींबू,
आपै मुसलमान आपै हिन्दू।
आपै मछ कछ आपै जाल,
आपै धीवर आपै काल।
कहै कबीर हम नाहीं रे नाही,
न हम जीवत न मुवले मांही।

अकथ कहानी प्रेम की
कछू कही न जाई,
गूंगे केरि सरकरा
बैठे मुसकाई।
भोमि बिना अरु बीज बिन
तरवर एक भाई।
अनंत फल प्रकासिया
गुर दीया बताई।
मन थिर बैसि बिचारिया
रामहि ल्यौ लाई।
झूठी मन में बिस्तरी
सब थोथी बाई।
कहै कबीर सकति कछू नाहीं
गुरु भया सहाई।
आवण जाणी मिटि गई,
मन मनहिं समाई।

लोका जानि न भूलो भाई ।
खालिक खलिक खलक में
खालिक सब घट रह्यो समाई ॥
अला एकै नूर उपनाया
ताकी कैसी निंदा ।
ता नूर थैं सब जग कीया
कौन भला कौन मंदा ।
ता अला की गति नहीं जानी
गुरि गुड़ दीया मीठा ।
कहै कबीर मैं पूरा पाया
सब घट साहिब दीठा ।

है कोई गुरज्ञानी जग उलटि बेद बूझै,
पानी में पावक बरै, अँधहि आँखन सूझै।
गाई तो नाहर खायो, हरिन खायो चीता,
काग लगर फांदि कै बटेर बाज जीता।
मूस तो मजार खायो, स्यार खायो स्वाना,
आदि कोऊ उदेश जाने, तासू बेश बाना।
एकहि दादुर खायो, पांच खायो भुवंगा,
कहहि कबीर पुकार के है दोऊ एकै संगा।

मैं डोरे डोरे जाऊँगा, तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा।
सूत बहुत कुछ थोरा, ताथैं ले कंथा डोरा,
कंथा डोरा लागा, जब जरा मरण भौ भागा,
जहाँ सूत कपास न पूनी, तहाँ बसे एक मूनी,
उस मूनी सूं चित लाऊँगा।
तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा।
मेरु डंड इक छाजा, जहाँ बसै इक राजा
तिस राजा सूं चित लाऊँगा।
तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा।
जहाँ बहु हीरा धन मोती, तहाँ तत लाइ ले जोती,
तिस जोतिहिं जोति मिलाऊँगा।
तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा।
जहाँ ऊगै सूर न चंदा, तहाँ देष्या एक अनंदा,
उस आनंद सूं चित लाऊँगा।
तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा।
मूल बंध एक पाया, तहाँ सिद्द गणेश्वर राजा,
तिस मूलहिं मूल मिलाऊँगा।
तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा।
कबीर तालिब तोरा, तहाँ गोपाल हरी गुर मोरा,
तहाँ हेत हरी चित लाऊँगा।
तो मैं बहुरि न भौ जलि आऊँगा।

अब घट प्रगट भये राम राई।
सोधि सरीर कंचन की नाई।
कनक कसौटी जैसे कसि लेइ सुनारा,
सोधि सरीर भयो तन सारा।
उपजत उपजत बहुत उपाई,
मन थिर भयो तबै थिति पाई।
बाहर खोजत जनम गंवाया,
उनमना ध्यान घट भीतर पाया।
बिन परचै तन कांच कथीरा,
परचै कंचन भया कबीरा।

हम सब माँहि सकल हम माँही ।
हम थैं और दूसरा नाही ।
तीन लोक में हमारा पसारा,
आवागमन सब खेल हमारा ।
खट दरसन कहियत हम भेखा,
हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा !
हमहीं आप कबीर कहावा,
हमहीं अपना आप लखावा ।

बहुरि हम काहे कूं आवहिंगे।
बिछुरे पंचतत्त की रचना
तब हम रामहिं पावहिंगे।
पृथ्वी का गुण पानी सोष्या
पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि
ये कहि गालि तवावहिंगे।
ऐसे हम जो वेद के बिछुरे
सुन्नहि माँहि समावहिंगे।
जैसे जलहि तरंग तरंगनी
ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर
हंसहि हंस मिलावहिंगे।

दरियाव की लहर दरियाव है जी
दरियाव और लहर में भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो दूसरा किस तरह होयम।
उसी नाम को फेर के लहर धरा
लहर के कहे क्या नीर खोयम।
जक्त ही फेर सब जक्त है ब्रह्म में
ज्ञान करि देख कब्बीर गोयम।

है कोई दिल दरवेश तेरा।
नासूत मलकूत जबरूत को छोड़िके
जाइ लाहूत पर करै डेरा।
अकिल की फहम ते इलम रोसन करै
चढ़ै खरसान तब होय उजेरा,
हिर्स हैवान को मारि मरदन करै
नफस सैतान जब होय जेरा।
गौस और कुतुब दिल फिकर जाका करै
फतह कर किला तहं दौर फेरा,
तखत पर बैठिके अदल इनसाफ़ कर
दोजख और भिस्त का करु निबेरा।
अजाब सवाब का सबब पहुँचे नहीं
जहाँ है यार महबूब मेरा
कहै कब्बीर वह छोड़ि आगे चला
हुआ असवार तब दिया दरेरा।

मन मस्त हुआ तब क्यों बोलै।
हीरा पायो गांठ गठियायो
बार बार बाको क्यों खोलै।
हलको थी जब चढ़ी तराजू
पूरी भई तब क्यों तोलै।
सुरत कलारी भई मतवारी
मदवा पी गई बिन तौले।
हंसा पाये मान सरोवर
ताल तलैया क्यों डोलै।
तेरा साहब है घट मांही
बाहर नैना क्यों खोलै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो
साहिब मिल गये तिल ओलै।

तोरी गठरी में लागे चोर
बटोहिया का रे सोवै।
पाँच पचीस तीन हैं चुरवा
यह सब कीन्हा सोर,
बटोहिया का रे सोवै।
जागु सबेरा बाट अनेड़ा
फिर नहिं लागै जोर,
बटोहिया का रे सोवै।
भवसागर इक नदी बहतु है
बिन उतरें जाव बोर,
बटोहिया का रे सोवै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो
जागत कीजे भोर,
बटोहिया का रे सोवै।

पिया मोर जागै मैं कैसे सोई री।
पाँच सखी मेरे संग की सहेली
उन रङ्ग रङ्गी पिया रङ्ग न मिली री।
सास सयानी ननद द्योरानी
उन डर डरी पिय सार न जानी री।
द्वादस ऊपर सेज बिछानी
चढ़ न सकौं मारी लाज लजानी री।
रात दिवस मोंहि कूका मारै
मैं न सुना रचि रहि सङ्ग जानी री।
कह कबीर सुनु सखी सयानी
बिन सतगुर पिय मिले न मिलानी री।

ये अँखियाँ अलसानी हो;
पिय सेज चलो।
खंभ पकरि पतंग अस डोलै
बोलै मधुरी बानी।
फूलन सेज बिछाय जो राख्यो
पिया बिना कुंभिलानो।
धीरे पाँव धरो पलंगा पर
जागत ननद जिठानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो
लोक लाज बिलछानी।

नैहरवा हमका नहिं भावै।
सांई की नगरी परम अति सुन्दर
जहं कोई जाय न आवै।
चांद सुरज जहँ पहन न पानी
को संदेश पहुँचावै।
दरद यह सांई को सुनावै।
आगे चलौं पंथ नहिं सूझै
पीछे दोस लगावै।
कहि विधि सुसरे जाउं मोरी सजनी
बिरहा जोर जनावै।
बिषै रस नाच नचावै।
बिन सतगुरु अपनी नहिं कोई
जो यह राह बतावै।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
सुपने न प्रीतम पावै।
तपन यह जिय की बुझावै।

पिय ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।
ऊँची अटरिया जरद किनरिया
लगी नाम की डोरिया।
चाँद सुरज सम दियना बरत हैं
ता बिच भूली डगरिया।
पाँच पचीस तीन घर बनिया
मनुआँ है चौधरिया।
मुंशी है कोतवाल ज्ञान को
चहुँ दिसि लगी बजरिया।
आठ मरातिब दस दरवाजे
नौ में लगी किवरिया।
खिरकि बैठि गोरी चितवन लागी
उपरां झांप झोपरिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो।
गुरु चरनन बलिहरिया।

घूंघट का पट खोल रे
तोको पीव मिलैंगे।
घट घट में वह सांई रमता
कटुक बचन मति बोल रे।
धन जोबन का गर्व न करिये
झूठा पंचरंग चोल रे।
सुन्न महल में दियना बार ले
आसा से मत डोल रे।
जोग जुगत री रंगमहल में
पिय पाये अनमोल रे।
कहत कबीर आनंद भयो है
बाजत अनहद ढोल रे।

नैहर में दाग लगाय आई चुनरी।
ऊ रंगरेजवा कै मरम न जानै
नहिं मिले धोबिया कवन करै उजरी।
तन कै कूंडी ज्ञान का सउंदन
साबुन महंग बिकाय या नगरी।
पहिरि ओढ़ि कै चली ससुरिया
गौवां के लोग कहैं बड़ी फुहरी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
बिन सतगुरु कबहूँ नहिं सुधरी।

मोरी चुनरी में परि गयो दाग पिया।

पञ्च तत्त कै बनी चुनरिया
सोरह सै बंद लागे जिया।
यह चुनरी मोरे मैके ते आई,
ससुरे में मनुआं खोय दिया।
मलि मलि धोई दाग न छूटै
ज्ञान को साबुन लाय पिया।
कहत कबीर दाग तब छूटि है
जब साहब अपनाय लिया।

सतगुरु हैं रङ्गरेज चुनर मोरी रङ्ग डारी ।
स्याही रङ्ग छुड़ाय के रे
दियो मजीठा रङ्ग,
धोये से छूटै नहीं रे
दिन दिन होत सुरङ्ग ।
भाव के कुंड नेह के जल में
प्रेम रङ्ग दई बोर,
चसकी चास लगाय के रे
खूब रङ्गी झकझोर ।
सतगुर ने चुनरी रङ्गी रे
सतगुर चतुर सुजान,
सब कुछ उन पर वार दूँ रे
तन मन धन और प्रान ।
कहत कबीर रङ्गरेज गुर रे
मुझ पर हुये दयाल,
सीतल चुनरी ओढ़ के रे
भइ हों मगन निहाल ।

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

काहे क ताना काहे कै भरनी

कौन तार से बीनी चदरिया।

इङ्गला पिंगला ताना भरनी

सुषमन तार से बीनी चदरिया।

आठ कमल दल चरखा डोलै

पांच तत्त गुन तीनी चदरिया।

सांई को सियत मास दस लागे

ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी

ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया।

दास कबीर जतन से ओढ़ी

ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया।

मो को कहाँ ढूंढ़ै बन्दे,
मैं तो तेरे पास में।
ना मैं बकरी ना मैं भेड़ी
ना मैं छुरी गंड़ास में।
नहीं खाल में नहीं पोंछ में
ना हड्डी ना मांस में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद
ना काबे कैलास में।
ना तौ कौनों क्रिया कर्म में
नहीं जोग बैराग में।
खोजी होय तुरतै मिलिहों
पल भर की तलाश में।
मैं तो रहौं सहर के बाहर
मेरी पुरी मवास में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो
सब सांसों की सांस में।

परिशिष्ट—ख

कबीर का जीवन-वृत्त

कबीर के जीवन-वृत्त के विषय में निश्चित रीति से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कबीर के जितने जीवन-वृत्त पाये जाते हैं उनमें एक तो तिथि आदि के विषय में कुछ नहीं लिखा, दूसरे उनमें बहुत-सी अलौकिक घटनाओं का समावेश है। स्वयं कबीर ने अपने विषय में कुछ बातें कह कर ही संतोष कर लिया है। उनसे हमें उनकी जाति और व्यक्तिगत जीवन का परिचय मात्र मिलता है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

कबीर-पंथ के ग्रंथों में कबीर के विषय में बहुत-कुछ लिखा गया है। कबीर की महत्ता सिद्ध करने के लिए उनमें गोरखनाथ[1] और चित्रगुप्त[2] तक से वार्तालाप कराया गया है। किंतु उनकी जन्म-तिथि और जन्म के विषय पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। केवल कबीर चरित्र-बोध[3] ही में जन्म-तिथि के विषय में निर्देश किया गया है।

"कबीर साहब का काशी में प्रकट होना"

'संवत् चौदह सौ पचपन विक्रमी जेष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार के दिन

---

१. कबीर गोरख की गोष्ठी, हस्तलिखित प्रति सं० १८७०, (ना० प्र० सभा)

२. अमरसिंह बोध (कबीरसार नं० ४) स्वामी युगलानन्द द्वारा संशोधित, पृष्ठ १८ (संवत् १९६३, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई)

३. कबीर चरित्र-बोध (बोधसागर, स्वामी युगलानन्द द्वारा संशोधित पृष्ठ ६, संवत् १९६३, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई)

सत्य पुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा। उस समय पृथ्वी और आकाश प्रकाशित हो गया।........उस समय अष्टानन्द वैष्णव तालाब पर बैठे थे, वृष्टि हो रही थी, बादल आकाश में घिरे रहने के कारण अन्धकार छाया हुआ था, और बिजली चमक रही थी, जिस समय वह प्रकाश तालाब में उतरा उस समय समस्त तालाब जगमग-जगमग करने लगा और बड़ा प्रकाश हुआ। वह प्रकाश उस तालाब में ठहर गया और प्रत्येक दिशाएँ जगमगाहट से परिपूर्ण हो गईं।'

कबीर पंथियों में कबीर के जन्म के संबंध में एक दोहा प्रसिद्ध है :—

चौदह सै पचपन साल गए, चंद्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रगट भए॥

इस दोहे के अनुसार कबीर का जन्म संवत् १४५५ की पूर्णिमा को सोमवार के दिन ठहरता है। बाबू श्यामसुन्दरदास का कथन है कि "गणना करने से संवत् १४५५ में जेष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंद्रवार को नहीं पड़ती। पद्य को ध्यान से पढ़ने पर संवत् १४५६ निकलता है क्योंकि उसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है "चौदह सौ पचपन साल गए" अर्थात् उस समय तक संवत् १४५५ बीत गया था।[1] गणना से संवत् १४५६ में चन्द्रवार को ही ज्येष्ठ पूर्णिमा पड़ती है। अतएव इस दोहे के अनुसार कबीर का जन्म संवत् १४५६ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को हुआ।"

किन्तु गणना करने पर ज्ञात होता है कि चन्द्रवार को ज्येष्ठ पूर्णिमा नहीं पड़ती। चन्द्रवार के बदले मंगलवार दिन आता है।[2] इस प्रकार बाबू श्यामसुन्दरदास का कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। कबीर के जन्म के सम्बन्ध में उपयुक्त दोहे में 'बरसायत' पर भी ध्यान नहीं दिया गया है।

भारत पथिक कबीर-पन्थी स्वामी श्री युगलानन्द ने 'बरसायत' पर एक

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृष्ठ १८

२. Indian Chronology—Part I, Pillai.

नोट लिखा है :—

"बरसायत अपभ्रंश है वटसावित्री का। यह बटसावित्री व्रत जेष्ठ के अमावस्या को होती है' इसकी विस्तार-पूर्वक कथा महाभारत में है। उसी दिन कबीर साहब नीमा और नूरी को मिले थे। इस कारण से कबीर-पंथियों में 'बरसाइत महातम' ग्रंथ की कथा प्रचलित है। और उसी दिन कबीरपंथी लोग बहुत उत्सव मनाते हैं।[1]

यह नोट श्री युगलानंद जी ने 'अनुराग सागर' में वर्णित "कबीर साहेब का काशी में प्रकट होकर नीरू को मिलने की कथा" के आधार पर लिखा है। उस कथा की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

यह विधि कछुक दिवस चलि गयऊ। तजि तन जन्म बहुरि तिन पयऊ।
मानुष तन जुलहा कुल दीन्हा। दोउ संयोग बहुरि बिधि कीन्हा ॥
काशी नगर रहे पुनि सोई। नीरू नाम जुलाहा होई।
नारि गवन लाव मग सोई। जेठ मास बरसाइत होई ॥[2]

आदि

इस पद और टिप्पणी के आधार पर कबीर का जन्म जेठ की 'बरसाइत' (अमावस्या) को हुआ। अब यह देखना है कि जेठ की अमावस्या को चंद्रवार पड़ता है या नहीं। यदि अमावस्या को चंद्रवार पड़ता है तब तो कबीर का जन्म संवत् १४५५ ही मानना होगा और 'गए' का अर्थ १४५५ के 'व्यतीत होते हुए' मानना होगा। ऐसी स्थिति में दोहे का परवर्ती भाग "पूरनमासी प्रगट भये" भी अशुद्ध माना जावेगा क्योंकि 'बरसाइत' पूर्णमासी को नहीं पड़ती, वह अमावस्या को पड़ती है।

---

१. अनुराग सागर (कबीर-सागर नं० २) पृष्ठ ८६, भारत-पथिक कबीरपंथी स्वामी श्री युगलानंद द्वारा संशोधित सं० १९६२
(श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई)

२. वही; पृष्ठ ८६

मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक 'कबीर—हिज़ बायाग्रेफ़ी' में इस किवदंती के दोहे का उल्लेख किया है। वे हिन्दी में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (सन् १९०२, पृष्ठ ५) का उल्लेख करते हुए सं० १४५५ (सन् १३९८) की पुष्टि करते हैं।[1]

मोहनसिंह के द्वारा दिये हुए नोट में 'गए' स्थान पर 'गिरा' है। ठीक नहीं कहा जा सकता कि 'गए' अथवा गिरा' शब्द में से कौन-सा शब्द ठीक है। लिखने में 'ए' और 'रा' में बहुत साम्य है। यदि 'गए' शब्द 'गिरा' से बन गया है तब तो १४४५ के बीत जाने (गए) की बात ही नहीं उठती। 'गिरा' 'पड़ने' के अर्थ में माना जायगा। अर्थात् सं० १४५५ की साल 'पड़ने' पर। किंतु यहाँ भी 'बरसाइत' और 'पूरनमासी' की प्रतिद्वंद्विता है!

इस दोहे की प्रामाणिकता के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसके लेखक का भी विश्वस्त रूप से पता नहीं। 'कबीर ग्रंथावली' के संपादक ने अपनी प्रस्तावना में लिखा है :—

"यह पद्य कबीरदास के प्रधान शिष्य और उत्तराधिकारी धर्मदास

---

१. In a Hindi book Bharat Bhramana which has recently been published, the following verses are quoted in proof of the time when Kabir was born and when he died.

> चौदह सौ पचपन साल गिरा चंद्र एक ठाट हुए।
> जेठ सुदी बरसाइत को पूरनमासी तिथि भए॥
> संवत् पंद्रह सौ अर पाच मगहर कियो गमन॥
> अगहन सुदी एकदसी, मिले पवन में पवन॥

This would then, fix the birth of Kabir in 1398 and his death in A. D. 1448. (R. S. H. M. 1902, page 5)

का कहा हुआ बताया जाता है।"[१] किन्तु विद्वान् संपादक के इस कथन में प्रामाणिकता नहीं पाई जाती। "कहा हुआ बताया जाता है" कथन ही संदेहास्पद है। अतएव हम अपना कथन 'अनुराग-सागर' के आधार पर ही स्थिर करना चाहते हैं जिसमें केवल यही लिखा है :—

नारि गवन आव मग सोई। जेठ मास बरसाइत होई॥[२]

'बील' अपनी ओरिएंटल बायोग्रेफ़िकल डिक्शनरी[३] में कबीर का जन्म सन् १४९० (संवत् १५४७) स्थिर करते हैं और उन्हें सिकन्दर लोदी का समकालीन मानते हैं। डाक्टर हण्टर अपने ग्रन्थ 'इण्डियन एम्पायर' के आठवें अध्याय में कबीर का समय सन् १३०० से १४२० तक (सम्वत् १३५७ से १४७७) मानते हैं। बील और हण्टर अपने अनुमान में १९० वर्ष का अन्तर रखते हैं। जान ब्रिग्स सिकन्दर लोदी का समय सन् १४८८ से १५१७ (सम्वत् १५४५—१५७४) मानते हैं। उनके कथनानुसार सिकन्दर लोदी ने २८ वर्ष ५ महीने राज्य किया।[४] जान ब्रिग्स ने अपना ग्रन्थ मुसलमान इतिहासकारों के हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर लिखा है, अतएव उनके काल-निर्णय के सम्बन्ध में शंका नहीं हो सकती। यदि बील के अनुसार हम कबीर का जन्म सन् १४९० में अर्थात् सिकन्दर लोदी के शासक होने के दो वर्ष बाद मानें तो सिकन्दर

Kabir—His Biography by Mohan Singh, page 19, foot note.

१. **कबीर ग्रंथावली-प्रस्तावना, पृष्ठ १८**

२. **अनुराग, सागर, पृष्ठ ८६**

३. An Oriental Biographical Dictionary—Thomas William Beale, London (1894) page 204.

४. History of the Rise of the Mohammedan Power in India—By John Briggs, page 589.

लोदी की मृत्यु तक कबीर केवल २६ वर्ष के होंगे। किन्तु मृत्यु के बहुत पहले ही सिकन्दर लोदी कबीर के सम्पर्क में आ गया था। यह समय भी निश्चित करना आवश्यक है।

श्री भक्तमाल सटीक[1] में प्रियादास की टीका में एक घनाक्षरी है। जिसके अनुसार कबीर और सिकन्दर लोदी का साक्ष्य हुआ था। वह घनाक्षरी इस प्रकार है :—

देखि कै प्रभाव, फेरि उपज्यो अभाव द्विज;
आयो पातसाह सो सिकन्दर सुनांव है।
विमुख समूह संग माता हूँ मिलाय लई,
जाय कै पुकारे "जू दुखायो सब गाँव है॥"
ल्यावो रे पकर वाको देखौं मैं मकर कैसो,
अकर मिटाऊँ गाढ़े जकर तनाव है।
आनि ठाढ़े किये, काज़ी कहत सलाम करो,
जानै न सलाम, जानैं राम गाढ़े पाँव है॥

इस घनाक्षरी के नीचे सीतारामशरण भगवानप्रसाद का एक नोट है :—

'यह प्रभाव देख करके ब्राह्मणों के हृदय में पुनः मत्सर उत्पन्न हुआ। वे सब काशीराज को भी श्री कबीर जी के वंश में जान कर, बादशाह सिकन्दर लोदी के पास जो आगरे से काशी जी आया था पहुँचे। श्री कबीर जी की माँ को भी मिला के साथ में ले के मुसलमानों सहित बादशाह की कचहरी में जाकर उन सब ने पुकारा कि कबीर शहर भर में उपद्रव मचा रहा है....आदि"[2]

इससे ज्ञात होता है कि जब सिकन्दर लोदी आगरे से काशी आया

---

१. भक्तमाल सटीक—सीतारामशरण भगवानप्रसाद
प्रथम बार, लखनऊ (सन् १९१३)

२. भक्तमाल, पृष्ठ ४७०

उस समय वह कबीर से मिला। इतिहास से ज्ञात होता है कि सिकन्दर लोदी बिहार के हुसेनशाह शरकी से युद्ध करने के लिए आगरे से काशी आया था। जान ब्रिग्स के अनुसार यह घटना हिजरी ९०० [अर्थात् सन् १४९४] की है।[१]

यदि कबीर सन् १४९४ में सिकन्दर लोदी से मिले होंगे तो वे उस समय बील के अनुसार केवल ४ वर्ष के होंगे। उस समय उनका इतना प्रसिद्धि पाना कि वे सिकन्दर लोदी की अप्रसन्नता के पात्र बन सके, संपूर्णतया असंभव है। अतएव बील के द्वारा दी हुई तिथि भ्रमात्मक है।

व्ही० ए० स्मिथ ने कबीर की कोई निश्चित तिथि नहीं दी। वे अंडरहिल द्वारा दी हुई तिथि का उल्लेख मात्र करते हैं।[२] वह तिथि है सन् १४४० से १५१८ (अर्थात् सम्वत्, १४९७ से १५७५)। यह समय सिकन्दर लोदी का समय है और कबीर का इस समय रहना प्रामाणिक है।

---

१. Hoosain Shah Shurky accordingly put his army in motion, and marched against the King. Sikander on hearing of his intentions, crossed the Ganges to meet him; and the two armies came in sight of each other at the spot distant 18 coss (27 miles) from Benares.

History of the Rise of the Mohammedan power in India by John Briggs. M. R. A. S. London (1929) Page 571-72.

२. Miss Underhill dates Kabir from about 1440 to 1518. He used to be placed between 1380 and 1420.

The Oxford History of India by V. A. Smith, Page 261 (foot note)

अतः कबीर की जन्म-तिथि किसी ने भी निश्चित प्रकार से नहीं दी। बाबू श्यामसुन्दरदास के अनुसार प्रचलित दोहे के आधार पर जेष्ठ पूर्णिमा, चंद्रवार सम्वत् १४५६ और अनुराग सागर के आधार पर जेष्ठ अमावस्या सम्वत् १४५५ कबीर की जन्म-तिथि है। जेष्ठ पूर्णिमा सम्वत् १४५६ को चन्द्रवार नहीं पड़ता अतएव यह तिथि अनिश्चित है। ऐसी परिस्थिति में हम कबीर की जन्म-तिथि जेष्ठ अमावस्या सम्वत् १४५५ ही मानते हैं। कबीर-पंथियों में भी जेठ बरसाइत सं० १४५५ मान्य है जो अनुराग सागर द्वारा स्पष्ट की गई है।

कबीर की मृत्यु की तिथि भी संदिग्ध ही है।

इस सम्बन्ध में भक्तमाल में यह दोहा है :—

पन्द्रह सो उनचास में, मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदि एकादसी, मिले पौन में पौन ॥[1]

इसके अनुसार कबीर की मृत्यु सं० १५४९ में हुई। कबीर-पंथियों में प्रचलित दोहे के अनुसार यह तिथि सं० १५७५ कही गई है :—

संवत् पन्द्रह सै पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी रलो पौन में पौन ॥[2]

सिकन्दर लोदी सन् १४९४ (सम्वत् १५५१) में कबीर से मिला था।[3] अतएव भक्तमाल के दोहे के अनुसार कबीर की मृत्यु तिथि अशुद्ध है। कबीर की मृत्यु सम्वत् १५५१ के बाद ही मानी जानी चाहिए। डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी के अनुसार कबीर का सिकन्दर लोदी से मिलना चिंत्य है। उनका समय चौदहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में ही मानना समीचीन है। वे लिखते हैं :—

---

१. भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ४७४

२. कबीर कसौटी

३. History of the Rise of the Mohammedan Power in India by John Briggs, Page 571—72

"कबीर का समय चौदहवीं शताब्दी का उत्तरकाल और संभवतः पंद्रहवीं शताब्दी का पूर्वकाल मानना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। सिकन्दर लोदी के समय में उनका होना सर्वथा संदिग्ध है। केवल जनश्रुतियों के आधार पर ही ऐतिहासिक तथ्य स्थिर नहीं हो सकता।"[१]

नागरी प्रचारिणी सभा से कबीर-ग्रंथावली का संपादन सं० १५६१ की हस्तलिखित प्रति के आधार पर किया गया है।[२] इस प्रति में वे बहुत से पद और साखियाँ नहीं हैं जो ग्रंथसाहब में संकलित हैं। इस संबंध में बाबू श्यामसुन्दरदास जी का कथन है :—"इससे यह मानना पड़ेगा कि या तो यह संवत् १५६१ वाली प्रति अधूरी है अथवा इस प्रति के लिखे जाने के १०० वर्ष के अंदर बहुत सी साखियाँ आदि कबीरदास जी के नाम से प्रचलित हो गई थीं, जो कि वास्तव में उनकी न थीं। यदि कबीरदास का निधन संवत् १५७५ में मान लिया जाता है तो यह बात असंगत नहीं जान पड़ती कि इस प्रति के लिखे जाने के अनंतर १४ वर्ष तक कबीरदास जी जीवित रहे और इस बीच में उन्होंने और बहुत से पद बनाए हों जो ग्रंथसाहब में सम्मिलित कर लिए गए हों।"[३]

बाबू साहब का यह मत समीचीन जान पड़ता है। कबीरपंथियों के विचार से साम्य रखने के कारण मृत्यु-तिथि सं० १५७५ ही मान्य है। इस प्रकार कबीर की जन्म-तिथि सं० १४५५ और मृत्यु-तिथि सं० १५७५ ठहरती है। इसके अनुसार वे १२० वर्ष तक जीवित रहे।

कबीर की जाति में भी अभी तक संदेह है। कबीरपंथी तो उन्हें

---

१. कबीर का समय—हिंदुस्तानी; पृष्ठ २१५, भाग २, अङ्क २।

२. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका पृष्ठ २।

३. वही, पृष्ठ २१।

जाति से परे मानते हैं।[1] किंतु किंवदंती है कि वे एक ब्राह्मणी विधवा के पुत्र थे। विधवा कन्या का पिता श्री रामानंद का बड़ा भक्त था। एक बार श्री रामानंद उस विधवा कन्या के प्रणाम करने पर उसे 'पुत्रवती' होने का आशीर्वाद दे बैठे। ब्राह्मण ने जब अपनी कन्या के विधवा होने की बात कही तब भी रामानंद ने अपना वचन नहीं लौटाया। आशीर्वाद के फल-स्वरूप उस विधवा-कन्या के एक पुत्र हुआ जिसे उसने लोक-लाज के डर से लहरतारा तालाब के किनारे छिपा दिया। कुछ देर बाद उसी रास्ते से नीरू जुलाहा अपनी नव-विवाहिता स्त्री नीमा को लेकर जा रहा था। नवजात शिशु का सौंदर्य देखकर उन्होंने उसे उठा लिया और उसका अपने पुत्र के समान पालन किया, इसीलिए कबीर जुलाहे कहलाए, यद्यपि वे ब्राह्मणी विधवा के पुत्र थे।

महाराज रघुराजसिंह की "भक्तमाला रामरसिकावली" में भी इस घटना का उल्लेख है पर कथा में थोड़ा सा अंतर आ गया है।[2] कुछ कबीरपंथियों का मत है कि कबीर ब्राह्मण की विधवा-कन्या

---

१. है अनाम अविचल अविनाशी, अकह पुरुष सतलोक के वासी ।।

—श्री कबीर साहब का जीवन-चरित्र (श्री जनकलाल) नरसिंहपुर (१९०५)

२. रामानंद रहे जग स्वामी। ध्यावत निसिदिन अंतरयामी ।।
तिनके ढिग विधवा एक नारी। सेवा करै बड़ो श्रमधारी ।।
प्रभु एक दिन रह ध्यान लगाई। विधवा तिय तिनके ढिग आई ।।
प्रभुहिं कियो वंदन बिन दोषा। प्रभु कह पुत्रवती भरि घोषा ।।
तब तिय अपनो नाम बखाना। यह विपरीत दियो बरदाना ।।
स्वामी कह्यो निकसि मुख आयो। पुत्रवती हरि तोहि बनायो ।।
ह्वै हैं पुत्र कलंक न लागो। तब सुत ह्वै है हरि अनुरागी ।।
तब तिय-कर फुलका परि आयो। कुछ दिन में ताते सुत जायो ।।

के पुत्र नहीं थे, वरन् रामानन्द के आशीर्वाद के फल-स्वरूप वे उसकी हथेली से उत्पन्न हुए थे, इसीलिए वे करवीर (हाथ के पुत्र) अथवा (करवीर का अपभ्रंश) 'कबीर' कहलाए। बात जो भी हो, जनश्रुति कबीर का जन्म ब्राह्मण-कन्या से जोड़ती है। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि कबीर विधवा की संतान थे तो यह बात लोगों को ज्ञात कैसे हुई ? उसने तो कबीर को लहरतारा के समीप छिपा कर रख दिया था। और यदि ब्राह्मण-विधवा को वरदान देने की बात लोग जानते थे तो उस विधवा ने अपने बालक को छिपाने का प्रयत्न ही क्यों किया ? रामानन्द के आशीर्वाद से तो कलंक—कालिमा की आशंका भी नहीं हो सकती थी। इस प्रकार कबीर की यह कलंक-कथा निर्मूल सिद्ध होती है। इस कथा के उद्‌गम के तीन कारण हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि इससे रामानन्द के प्रभुत्व का प्रचार होता है। वे इतने प्रभावशाली थे कि अपने आशीर्वाद से एक विधवा-कन्या के उदर से पुत्रोत्पत्ति कर सकते थे। दूसरा कारण यह हो सकता है कि कबीर के पंथ में बहुत से हिन्दू भी सम्मिलित थे। अपने गुरु को जुलाहा की हीन और नीच जाति से हटा कर वे उनका सम्बन्ध पवित्र ब्राह्मण जाति से जोड़ना चाहते थे। और तीसरा कारण यह है कि कुछ कट्टर हिन्दू और मुसलमान जो कबीर की धार्मिक उच्छृङ्खलता से क्षुब्ध थे, वे उन्हें अपमानित और कलंकित करने के लिए उनके जन्म का सम्बन्ध इस कलंक-कथा से घोषित करना चाहते थे।

कबीर के जन्म-सम्बन्ध में प्राप्त हुए कुछ प्रमाणों से यह स्पष्ट होता

जनत पुत्र नभ बजे नगारा। तदपि जननि उर सोच अपारा ॥
सो सुत लै तिय फेंक्यो दूरी। कढ़ी जुलाहिन तहँ एक करी ॥
सो बालकहिं अनाथ निहारी। गोद राखि निज भवन सिधारी ॥
लालन पालन, किय बहु भाँती। सेयो सुतहिं नारि दिन रातीं ॥

—भक्तमाला रामरसिकावली

है कि वे ब्राह्मणी विधवा की सन्तान न होकर मुसलमानी कुल में ही पैदा हुए थे। सब से अधिक प्रामाणिक उद्धरण हमें आदि श्री गुरुग्रन्थ साहब में मिलता है। उक्त ग्रंथ में श्री रैदास के पद संग्रहीत हैं, उसमें एक पद इस प्रकार है:—

मलारबाणीभगतरविदासजी की

१ ओसतिगुरप्रसाद ॥......................॥ ३ ॥ १ ॥

मलार ॥ हरिजपततेऊजनांपदमकवलासपतितासमतुलिनहींआनकोऊ ॥ एकहीएकअनेककहोइबिसथरिओआनरेआनभरपूरिसोऊ ॥ रहाउ ॥ जाकैभागवतुलेखीअैअवरुनहीपेखीअैतासकीजातिआछोपछीपा । बिआसमहिलेखीअैसनकमहिपेखीअैनामकीनामनासपतदीपा ॥ १ ॥

जाकेंईदियकरीदिकुलगऊरेवधुकरहिमानीअहिसेखसहीदपीरा ॥ जाकै बापवैसीकरीपूतअैसीसरीतिहूरेलोकपरसिधकबीरा ॥ ॥ जाकेकुटुम्बकेढेढ़-

---

मलार बाणी भगत रबिदास जी की

१. ओ सतगुरु प्रसादि ॥...............॥३॥१॥

मलार ॥ हरि जपत तेऊ जनां पदम कवालसपति ता सम तुलि नहीं आन कोऊ। एक ही एक अनेक होइ विसथरिओआनरे आन भरुपूरि सोऊ ॥ रहाऊ ॥ जागे भगवतु लेखअै अवरु नहीं पेखीअै तास की जाति आछोप छीपा ॥ बियास यहि लेखअै सनक महि पेखिअै नाम की नामना सपत दीपा ॥ १ ॥ जाकै ईदि बकरीद कुल गऊ रे बधु करहि मानीअहि सेख सहीद पीरा ॥ जाकै बाप वैसी करी पूत अैसी सरी तिहू रे लोक परसिध कबीरा ॥ २ जाके कुटुम्ब के ढेढ़ सभ ढोंवत फिरहि अजहूं बनारसी आसपासा ॥ अचार सहित विप्र करहि दंडउति तिनि तनैं रविदासदासनुदासा ॥ ३ ॥ २ ॥

—आदि श्री गुरुग्रन्थ साहिब जी, पृष्ठ ६६८

भाई मोहनसिंह वैद्य, तरनतारन (अमृतसर)

१७ अगस्त १९२७, बुधवार

सबढोरढोवतफिरहि अजहुँ बनारसी आसपासा। आचारसहित विप्रकर-हिडंडउुतितिनितनैरविदासदासानुदासा ॥ ३ ॥ २ ॥

रैदास के इस पद में नामदेव, कबीर और स्वयं रैदास का परिचय दिया गया है। नामदेव छीपा (दर्जी) जाति थे। कबीर जाति के मुसलमान थे जिनके कुल में ईद बकरीद के दिन गऊ का बध होता था जो शेख शहीद और पीर को मानते थे। उन्होंने अपने बाप के विपरीत आचरण करके भी तीनों लोकों में यश की प्राप्ति की। रैदास चमार जाति के थे जिनके वंश में मरे हुए ढोर ढोए जाते हैं और जो बनारस के निवासी थे।

आदि श्री गुरुग्रन्थ के इस पद के अनुसार कबीर निश्चय ही मुसल-मान वंश में उत्पन्न हुए थे। आदि ग्रंथ का संपादन संवत् १६६१ में हुआ था। सिक्खों का धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण इसके पाठ में अणु-मात्र भी अंतर नहीं हुआ। निर्देशित आदि श्री गुरुग्रन्थ साहिब गुरुमुखी में लिखे हुए इसी ग्रंथ की अविकल प्रति है।[1] इस प्रकार यह प्रति और

१. इस दशा और त्रुटि को देखते हुए श्री सतगुरु जी के प्रेरना से यदि सेवा करने का उतसाह दास को हुआ और आदि में भेंटा भी असली लागत से भी बहुत कम रखने का द्रिढ विचार और वैसा ही बरताव किया गया। फिर यहि विचार हुआ कि शब्द के स्थान शब्द तथा और हिंदी शब्द या पद हिंदी की लेखन प्रणाली के अनुसार ही लिखे जावें या यथातथ्य गुरुमुखी के अनुसार ही लिखे जावें? इस पर बहुत विचार करने से यही निश्चय हुआ कि महान पुरुषों की तर्फ से जो अक्षरों के जोड़ तोड़ मन्त्र रूप दिव्य बाणी में हुआ करते हैं उनके मिलाप में कोई अमोघ शक्ती होती है जिसको सर्व साधारण हम लोग नहीं समझ सकते। परन्तु उनके पठन-पाठन में यथातथ्य उच्चारन से ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसके सिवाय यह भी है कि श्री गुरुग्रन्थ साहिब जी के प्रतिशत ८० शब्द ऐसे हैं जो हिन्दी पाठक ठीक-ठीक समझ सकते हैं। इस विचार के अनुसार ही यह हिंदी बीड़ गुरमुखी लिखित

उसका पाठ अत्यन्त प्रामाणिक है । इस प्रमाण का आधार श्री मोहन सिंह से भी कबीर की जाति के निर्णय करने में लिखा है ।[1]

दूसरा प्रमाण सद्गुरु गरीबदास जी साहिब की बाणी[2] से प्राप्त होता है । इसमें 'पारख का अंग' ॥५२॥ के अन्तर्गत कबीर साहब का जीवन-चरित्र दिया हुआ है । प्रारम्भ में ही लिखा हुआ है[3] :—

गरीब सेवक होय करि उतरे
इस पृथिवी के मांहि
जीव उधारन जगत गुरु बार बार बलि जांहि ॥३८०॥
गरीब काशी पुरी कस्त किया, उतरे अधर उधार ।
मोमत को मुजरा हुआ, जंगल में दीदार ॥३८१॥
गरीब कोटि किरण शशि भान सुधि, आसन अधर बिमान ।
परसत पूरण ब्रह्म कूं, शीतल पिंडरु प्राण ॥३८२॥
गरीब गोद लिया मुख चूंबि करि, हेम रूप झलकंत ।
जगर मगर काया करै, दमकैं पदम अनंत ॥३८३॥
गरीब काशी उमटी गुल भया, मो मन का बर घेर ।
कोई कहै ब्रह्म विष्णु हैं, कोई कहे इंद्र कुबेर" ॥३८४॥

इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि कबीर ने काशी में सीधे मुसलमान

अनुसार ही रखी गई है अर्थात् केवल गुरमुखी से अक्षरों के स्थान हिन्दी (देवनागरी) अक्षर ही किये गये हैं—

वही ग्रन्थ, प्रकाशक की विनय, पृष्ठ १

१. Kabir—His Biography, By Mohan Singh, pub. Atma Ram and Sons. Lahore 1934

२. श्री सद्गुरु गरीबदासजी साहिब की वाणी
संपादक अजरानन्द गरीबदास रमताराम
आर्य सुधारक छापाखाना, बड़ौदा

३. वही ग्रन्थ, पृष्ठ १९६

(मोमिन) ही को दर्शन देकर उसके घर में जन्म ग्रहण किया। और मोमिन ने शिशु कबीर का मुँह चूम कर उसके अलौकिक रूप के दर्शन किये। इस अवतरण से भी कबीर की ब्राह्मण विधवा से उत्पन्न होने की किवदंती ग़लत हो जाती है। सद्गुरु गरीबदास जी साहिब की बाणी भी प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाना चाहिए क्योंकि वह संवत् १८६० की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रकाशित की गई है।[1]

इन दो प्रमाणों से कबीर का मुसलमान होना स्पष्ट है। इन्होंने अपनी जुलाहा जाति का परिचय भी स्पष्ट रूप से अनेक स्थानों पर दिया है :—

१ तननां बुननां तज्या कबीर, राम नाम लिखि लिया सरीर ॥[2]
२ जुलाहे तनि बुनि पांन न पावल, फारि बुनी दस ठांई हो।[3]
३ जाति जुलाहा मति कौ धीर,
हरषि हरष गुण रमै कबीर ॥[4]
४ तूं ब्राँह्मण मैं कासी का जुलाहा,
चीन्हि न मोर गियाना ॥[5]

---

१. यह ग्रन्थ साहिब हस्तलिखित विक्रम संवत् १८६० मिती बैसाख मास का लिखा हुआ मेरे को मुकाम पिलाणा जिल्ला रोहतक में मिला हुआ जैसा का तैसा छापा है जिसको असल लिखा हुआ ग्रन्थ साहिब देखना हो वह बड़ोदे में श्री जुम्माबाबा व्यायामशाला प्रो० माणेकराव के यहाँ कायम के लिये, रखा गया है सो सब वहाँ से देख सकते हैं :—
अजरानन्द गरीबदासी
—बाणी की प्रस्तावना

२. कबीर ग्रन्थावली (नागरी प्रचारिणी सभा) इं० प्रे० प्रयाग १९२८, पृष्ठ ९५

३. वही	पृष्ठ	१०४
४. ,,	,,	१२८
५. ,,	,,	१७३

५ जाति जुलाहा नाँम कबीरा,
बनि बनि फिरौं उदास।[१]

६ कहत कबीर मोहि भगत उमाहा,
कृत करणीं जाति भया जुलाहा ॥[२]

७ ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै,
यूं ढुरि मिल्या जुलाहा ॥[३]

८ गुरु प्रसाद साधु की संगति,
जग जीतें जाइ जुलाहा ॥[४]

कबीर के छठे उद्धरण से तो यही ध्वनि निकलती है कि पूर्व कर्मानुसार ही उन्हें जुलाहे के कुल में जन्म मिला। "भया" शब्द इस अर्थ का पोषक है।

कबीर बचपन से ही धर्म की ओर आकर्षित थे। वे भजन गाया करते थे और लोगों को उपदेश दिया करते थे पर 'निगुरा' (बिना गुरु के) होने के कारण लोगों में आदर के पात्र नहीं थे और उनके भजनों अथवा उपदेशों को भी कोई सुनना पसंद नहीं करता था। इस कारण वे अपना गुरु खोजने की चिंता में व्यस्त हुए। उस समय काशी में रामानन्द की बड़ी प्रसिद्धि थी। कबीर उन्हीं के पास गये पर कबीर के मुसलमान होने के कारण उन्होंने उन्हें अपना शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया। वे हताश तो बहुत हुए पर उन्होंने एक चाल सोची। प्रातःकाल अंधेरे ही में रामानन्द पंचगंगा घाट पर नित्य स्नान करने के लिए जाते थे। कबीर पहले से ही उनके रास्ते में घाट की सीढ़ियों पर लेट रहे। रामानन्द जैसे ही स्नानार्थ आये वैसे ही उनके पैर की ठोकर कबीर के

१. कबीर ग्रन्थावली (ना० प्र० स०), इं० प्रे०, प्रयाग १९२८, पृ० १८१
२. वही पृष्ठ १८१
३. ,, ,, २२१
४. ,, ,, ,,

सिर में लगी। ठोकर लगने के साथ ही रामानंद के मुख से पश्चात्ताप के रूप में 'राम' 'राम' शब्द निकल पड़ा। कबीर ने उसी समय उनके चरण पकड़ कर कहा कि महाराज, आज से आपने मुझे 'राम' नाम से दीक्षित कर अपना शिष्य बना लिया। आज से आप मेरे गुरु हुए। रामानन्द ने प्रसन्न हो कबीर को हृदय से लगा लिया। इसी समय से कबीर रामानन्द के शिष्य कहलाने लगे। बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपनी पुस्तक कबीर ग्रंथावली में लिखा है :—

"केवल किंवदंती के आधार पर रामानन्द को उनका गुरु मान लेना ठीक नहीं। यह किंवदंती भी ऐतिहासिक जाँच के सामने ठीक नहीं ठहरती। रामानन्द जी की मृत्यु अधिक से अधिक देर में मानने से संवत् १४६७ में हुई, इससे १४ या १५ वर्ष पहले भी उनके होने का प्रमाण विद्यमान है। उस समय कबीर की अवस्था ११ वर्ष की रही होगी, क्योंकि हम ऊपर उनका जन्म १४५६ सिद्ध कर आए हैं। ११ वर्ष के बालक का घूम-फिर कर उपदेश देने लगना सहसा ग्राह्य नहीं होता। और यदि रामानन्द जी की मृत्यु संवत् १४५२-५३ के लगभग हुई तो यह किंवदंती झूठी ठहरती है; क्योंकि उस समय तो कबीर को संसार में आने के लिए अभी तीन चार वर्ष रहे होंगे।"[१]

बाबू साहब ने यह नहीं लिखा कि रामानन्द की मृत्यु की तिथि उन्होंने किस प्रामाणिक स्थान से ली है। नाभदास के भक्तकाल की टीका करनेवाले प्रियादास के अनुसार रामानन्द की मृत्यु सं० १५०५ विक्रमी में हुई, इसके अनुसार रामानन्द की मृत्यु के समय कबीर की अवस्था ४९ वर्ष की रही होगी। उस अवस्था में या उसके पहले कबीर क्या कोई भी भक्त घूम-फिर कर उपदेश दे सकता है और रामानन्द का शिष्य बन सकता है। फिर कबीर ने लिखा है :—

कबीर में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चिताए। (कबीर परिचय)

---

१. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ २५।

कुछ विद्वानों का मत है कि शेख़ तक़ी कबीर के गुरु थे।[1] पर जिस गुरु को कबीर ईश्वर से भी बड़ा मानते थे उसे गुरु शेख़ तक़ी के लिए नहीं कह सकते थे :—

घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख
(कबीर परिचय)

हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि वे शेख़ तक़ी के सत्संग में रहे हों और उनसे उनका पारस्परिक व्यवहार रहा हो!

कबीर का विवाह हुआ था अथवा नहीं, यह संदेहात्मक है। कहते हैं कि उनकी स्त्री का नाम लोई था। वह एक बनखंडी बैरागी की कन्या थी। उसके घर पर एक रोज़ संतों का समागम था। कबीर भी वहाँ थे। सब संतों को दूध पीने को दिया गया। सब ने तो पी लिया, कबीर ने अपना दूध रक्खा रहने दिया। पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि एक संत आ रहा है, उसके लिए यह दूध रख दिया गया है। कुछ देर में संत उसी कुटी पर पहुँचा। सब लोग कबीर की शक्ति पर मुग्ध हो गये। लोई तो भक्ति से इतनी विह्वल हो गई कि वह इनके साथ रहने लगी। कोई लोई को कबीर की स्त्री कहते हैं, कोई शिष्या। कबीर ने निस्संदेह लोई को संबोधित कर पद लिखे हैं। उदाहरणार्थ :—

कहत कबीर सुनहु रे लोई
हरि बिन राखन हार न कोई।
(कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ११८)

संभव है, लोई उनकी स्त्री हो पीछे संत-स्वभाव से उन्होंने उसे शिष्या बना लिया हो। उन्होंने अपने गार्हस्थ-जीवन के विषय में भी लिखा है :—

---

१. Kabir and the Kabir Panth, by Westcott, Page 25

नारी तो हम भी करी, पाया नहीं विचार
जब जानी तब परिहरी नारी बड़ा विकार।

(सत्य कबीर की साखी, पृष्ठ १३३)

कहते हैं, लोई से इन्हें दो संतानें थीं। एक पुत्र था कमाल, और दूसरी पुत्री थी कमाली। जिस समय ये अपने उपदेशों से प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे थे उस समय सिकंदर लोदी तख्त पर बैठा था। उसने कबीर के अलौकिक कृत्यों की कहानी सुनी। उसने कबीर को बुलाया और जब उसने कबीर को स्वयं अपने को ईश्वर कहते पाया तो क्रोध में आकर उन्हें आग में फेंका, पर वे साफ़ बच गये, तलवार से काटना चाहा पर तलवार उनका शरीर बिना काटे ही उनके भीतर से निकल गई। तोप से मारना चाहा पर तोप में जल भर गया। हाथी से चिराना चाहा पर हाथी डर कर भाग गया।

ऐसे अलौकिक कृत्यों में कहाँ तक सत्यता है, यह संभवतः कोई विश्वास न करे पर महात्मा या संतों के साथ ऐसी कथाओं का जोड़ना आश्चर्य-जनक नहीं है।

मृत्यु के समय कबीर काशी से मगहर चले आए थे। उन्होंने लिखा है :—

सकल जनम शिवपुरी गंवाया
मरति बार मगहर उठि धाया।

(कबीर परिचय)

यह विश्वास है कि काशी में मरने से मोक्ष मिलता है, मगहर में मरने से गधे का जन्म। पर कबीर ने कहा :—

जौ काशी तन तजै कबीरा
तौ रामहि कौन निहोरा।

(कबीर परिचय)

वे तो यह चाहते थे कि यदि मैं सच्चा भक्त हूँ तो चाहे काशी में मरूँ चाहे मगहर में, मुझे मुक्ति मिलनी चाहिए। यही विचार कर वे

मगहर चले गए। उनके मरने के समय हिंदू मुसलमानों में उनके शव के लिए झगड़ा उठा। हिंदू दाह-कर्म करना चाहते थे और मुसलमान गाड़ना चाहते थे। कफ़न उठाने पर शव के स्थान पर फूल-राशि दिखलाई पड़ी जिसे हिंदू मुसलमानों ने सरलता से अर्ध भागों में विभाजित कर लिया। हिंदू और मुसलमान दोनों संतुष्ट हो गये।

कविता की भाँति कबीर का जीवन भी रहस्य से परिपूर्ण है।

●

परिशिष्ट—ग

कबीर की कविता से संबंध रखने वाले हठयोग और सूफ़ीमत में प्रयुक्त कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ :—

(अ) हठयोग

१—अवधू

यह अवधूत का अपभ्रंश है। जिसका अर्थ है, जो संसार से वैराग्य लेकर संसार के बंधन से अपने को अलग कर लेता है।

यो विलंघ्याश्रमान् वर्णान आत्मँन्येव स्थितःप्रमाण ।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते ॥

ऐसा भी कहा जाता है कि यह नाम रामानन्द ने अपने अनुयायियों और भक्तों को दे रक्खा था क्योंकि उन्होंने रामानुजाचार्य के कर्मकांडों की उपेक्षा कर दी थी।

२—अमृत

ब्रह्मरंध्र में स्थित सहस्त्र-दल-कमल के मध्य में एक योनि है। उसका मुख नीचे की ओर है। उसके मध्य में चन्द्राकार स्थान है जिससे सदैव अमृत का प्रवाह होता है। यह इडा नाड़ी द्वारा बहता है और मनुष्य को दीर्घायु बनाने में सहायक होता है। जो प्राणायाम के साधनों से अनभिज्ञ हैं, उनका अमृत-प्रवाह मूलाधार-चक्र में स्थित सूर्य द्वारा शोषण कर लिया जाता है। इसी अमृत के नष्ट होने से शरीर वृद्ध बनता है। यदि अभ्यासी इस अमृत का प्रवाह कंठ को बंद कर रोक ले तो उसका उपयोग शरीर की वृद्धि ही में होगा। उसी अमृत-पान से वह अपने शरीर को जीवन की शक्तियों से पूर्ण कर लेगा और यदि तक्षक भी उसे काट ले तो उसके शरीर में विष का संचार न होगा।

३—अनहद

योगी जब समाधिस्थ होता है तो उसके शून्य अथवा आकाश (ब्रह्म-रंध्र के समीप के वातावरण) में एक प्रकार का संगीत होता है जिससे वह मस्त होकर ईश्वर की ओर ध्यान लगाये रहता है। इस शब्द का शुद्ध रूप अनाहत है। यह ब्रह्मरंध्र में निरंतर होता रहता है।

४—इल (इडा)

मेरुदंड के बाएँ ओर की नाड़ी जिसका अन्त नाक के दाहिने ओर होता है।

५—कहार (पाँच)

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ।

आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा।

६—काशी

आज्ञा-चक्र के समीप इडा (गंगा या बरना) और पिंगला (यमुना या असी) के मध्य का स्थान काशी (वाराणसी) कहलाता है। यहाँ विश्वनाथ का निवास है।

इडा हि पिंगला ख्याता वाराणसीति होच्यते
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाषितः ।

(शिवसंहिता, पंचम पटल, श्लोक १००)

७—किसान (पंच)

शरीर में स्थित पंच प्राण

उदान, प्रान, समान, अपान और ध्यान।

उदान—मस्तिष्क में

प्रान—हृदय में

समान—नाभि में

अपान—गुह्य स्थान में

व्यान—समस्त शरीर में

८—खसम

सत्पुरुष (देखिए माया की विवेचना)

९—गंगा

इडा नाड़ी ही गंगा के नाम से पुकारी जाती है। कभी-कभी इसे बरना भी कहते हैं। इस नाड़ी से सदैव अमृत का प्रवाह होता है। यह आज्ञा चक्र के दाहिने ओर जाती है।

१०—गगन

(शून्य देखिए)

११—घट

शरीर।

१२—चंद

ब्रह्मरंध्र में सहस्र-दल कमल है। उसमें एक योनि है। जिसका मुख नीचे की ओर है। इस योनि के मध्य में एक चंद्राकार स्थान है, जिससे सदैव अमृत प्रवाहित होता है। यही स्थान कबीर ने चंद्र के नाम से पुकारा है।

१३—चरखा

काल-चक्र, (देखिए पृष्ठ २७)

१४—चोर (पंच)

पंच विकार

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद।

१५—जमुना

पिंगला नाड़ी का दूसरा नाम जमुना है। इसे 'असी' भी कहते हैं। यह आज्ञा-चक्र के बाएँ ओर जाती है।

१६—जना (तीन)

तीन गुण—

सत, रज, तम ।

१७—तरुवर

मेरुदंड ।

१८—त्रिकुटी

भौंहों के मध्य का स्थान ।

१९—ढाई

पच्चीस प्रकृतियाँ ।

२०—धनुष

(देखिए त्रिकुटी)

२१—नागिनी

मूलाधार-चक्र की योनि के मध्य में विद्युल्लता के आकार की सर्प की भाँति साढ़े तीन बार मुड़ी हुई कुंडलिनी है जो सुषुम्णा नाड़ी के मुख की ओर है। यह सृजनात्मक शक्ति है और इसी के जागृत होने से योगी को सिद्धि प्राप्ति होती है।

२२—पंच जना

अद्वैतवाद के अनुसार विश्व केवल एक तत्त्व में निहित है—उस तत्त्व का नाम है परब्रह्म। सृष्टि करने की दृष्टि से उसका दूसरा नाम है मूल प्रकृति। मूल प्रकृति का प्रथम रूप हुआ आकाश, जिसे अंग्रेजी में ईथर (ether) कहते हैं। आकाश (ईथर) की तरंगों से वायु प्रकट हुई। वायु के संघर्षण से तेज (पावक) उत्पन्न हुआ। तेज के संघर्षण-से तरल पदार्थ (जल) उत्पन्न हुआ जो अंत में दृढ़ (पृथ्वी) हो जाता है। इस प्रकार मूल प्रकृति के क्रमशः पाँच रूप हुए जो पंच-तत्वों के नाम से कहे जाते हैं :—

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ।

ये पाँचों तत्व क्रमशः फिर मूल प्रकृति में लीन हो सकते हैं। पृथ्वी

जल में, जल तेज में, तेज वायु में और वायु फिर आकाश में लीन हो सकता है और फिर अनंत सत्ता का एक प्रशांत साम्राज्य हो सकता है। यही अद्वैतवाद का सार तत्व है। प्रत्येक तत्व की पाँच प्रकृतियाँ भी हैं। इस प्रकार पाँच तत्व की पच्चीस प्रकृतियाँ हो जाती हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

आकाश की प्रकृतियाँ—मन, बुद्धि, चित्त अहंकार, अंतःकरण।
वायु ,, ,, प्रान, अपान, समान, उदान ब्यान।
तेज ,, ,, आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा।
जल ,, ,, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध।
पृथ्वी ,, ,, हाथ, पैर, मुख, गुह्य, लिंग।

२३—पिंगला

मेरुदण्ड के दाहिने ओर की नाड़ी। इसका अन्त नाक के बाएँ ओर होता है।

२४—पवन

प्राणायाम द्वारा शरीर की परिष्कृत वायु।

२५—पनिहारी (पंच)

पाँच गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध।

२६—बंकनालि

(नागिनी देखिए)

२७—महारस

(अमृत देखिए)

२८—मंदला

(अनहद देखिए)

२९—षट् चक्र

सुषुम्णा नाड़ी की छः स्थितियाँ छः चक्रों के रूप में हैं। उन चक्रों

के नाम हैं—

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहद, विशुद्ध और आज्ञा।

मूलाधार चक्र	गुह्य-स्थान के समीप,
स्वाधिष्ठान चक्र	लिंग-स्थान के समीप,
मणिपूरक चक्र	नाभि-स्थान के समीप,
अनाहद चक्र	हृदय-स्थान के समीप,
विशुद्ध चक्र	कंठ-स्थान के समीप और
आज्ञा चक्र	दोनों भौंहों के बीच (त्रिकुटी में)

प्रत्येक चक्र की सिद्धि योगी की दिव्य अनुभूति में सहायक होती है।

३०—सुरति

स्मृति का अपभ्रंश है। जिसका अर्थ 'अनुभव की हुई वस्तु का सद्-बोध (उस चीज़ को जगाने वाला कारण) सहकार से संस्कार के आधीन ज्ञान विशेष है।' श्री माधव प्रसाद का कथन है कि सुरति 'स्वरत' का रूप है जिसका तात्पर्य है अपने में लीन हो जाना। कुछ विद्वान इसे फ़ारसी के 'सूरत-इ-इलमिया' का रूप बतलाते हैं। कबीर के 'आदि-मंगल' में सुरति का अर्थ आदि ध्वनि से ही लिया जा सकता है जिससे शब्द उत्पन्न हुआ और ब्रह्माओं की सृष्टि हुई :—

१ 'प्रथम मूर्ति समरथ कियो घट में सहज उपचार।'

२ तब समरथ के श्रवण ते मूल सुरति भै सार।

शब्द कला ताते भई पाँच ब्रह्म अनुहार॥ (आदि मंगल)

३१—सुन्न

ब्रह्मरंध्र का छिद्र जो (०) बिन्दु रूप होता है। इसी से कुण्डलिनी का संयोग होता है। इसी स्थान पर ब्रह्म (आत्मा) का निवास है। योगी जन इसी रंध्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। इस छिद्र के छः दरवाजे हैं, जिन्हें कुण्डलिनी के अतिरिक्त कोई नहीं खोल सकता।

प्राणायाम के द्वारा इसे बन्द करने का प्रयत्न योगी-जन किया करते हैं। इससे हृदय की सभी क्रियाएँ स्थिर हो जाती हैं।

३२—सूर्य

मूलाधार चक्र में चार दलों के बीच में एक गोलाकार स्थान है जिससे सदैव विष का स्राव होता है। इसी स्थान-विशेष का नाम सूर्य है, जिससे निकला हुआ विष पिंगला नाड़ी द्वारा प्रवाहित होकर नाक के दाहिनी ओर जाता है और मनुष्य को वृद्ध बनाता है।

३३—सुषुम्ना

इडा और पिंगला नाड़ी के बीच मेरुदण्ड के समानान्तर नाड़ी। उसकी छः स्थितियाँ हैं, जहाँ छः चक्र हैं।

३४—हंस

जीव जो नव द्वार के पिंजड़े में बन्द रहता है।

(आ) सूफ़ीमत

ज़ात सिफ़त

सूफ़ीमत के अनुसार अहद (परमात्मा) के दो रूप हैं। प्रथम है ज़ात, दूसरा है सिफ़त। ज़ात तो 'जानने वाले' के अर्थ में और सिफ़त 'जाना-हुआ' के अर्थ में व्यवहृत होता है। अतएव जानने वाला प्रथम तो अल्लाह है और जाना हुआ है दूसरा मुहम्मद। ज़ात और सिफ़त की शक्तियाँ ही अनन्त का निर्माण करती हैं। इन शक्तियों के नाम हैं नजूल और उरूज। नजूल का तात्पर्य है लय होने से और उरूज का तात्पर्य है उत्पन्न अथवा विकसित होने से। नजूल तो जाल से उत्पन्न होकर शिफ़त में अन्त पाती है और उरूज सिफ़त से उत्पन्न होकर ज़ात में अंत पाती है। ज़ात निषेधात्मक है और सिफ़त गुणात्मक। ज़ात सिफ़त को उत्पन्न कर फिर अपने में लीन कर लेता है। मनुष्य की परिमित बुद्धि ज़ात को सिफ़त से भिन्न, और सिफ़त को ज़ात से स्वतन्त्र मानती है।

हक़

सभी धर्मों और विश्वासों का आधार एक सत्य है। उसे सूफ़ीमत में 'हक़' कहते हैं। उसके अनुसार यह सत्य दो वस्त्रों से आच्छादित है। सिर पर पगड़ी और शरीर पर अँगरखा। पगड़ी रहस्य से निर्मित है जिसका नाम है रहस्यवाद। अँगरखा सत्याचरण से निर्मित है जिसका नाम है धर्म। वह सत्य इन वस्त्रों से इसलिए ढँक दिया गया है, जिससे अज्ञानियों की आँखें उस पर न पड़ें या अज्ञानियों की आँखों में इतनी शक्ति कहीं नहीं है कि वे उस देदीप्यमान प्रकाश को देख सकें। सत्य का रूप एक ही है पर उसका विवेचन भिन्न-भिन्न भाँति से किया गया है। इसीलिए तो संसार में अनेक धर्मों की उत्पत्ति हुई।

अहद

केवल एक शक्ति—ईश्वर।

वहदत

एकांत अस्तित्व

इश्क़

जब अहद अपनी वहदत का अनुभव करता है तो उसके प्यार करने की शक्ति उसे एक दूसरा रूप उत्पन्न करने के लिए बाध्य करती है। इस प्रकार प्रथम स्थिति में अहद आशिक़ बनता है और उसका उत्पन्न हुआ दूसरा रूप माशूक़ है। उत्पन्न हुआ अल्लाह का दूसरा रूप प्रेम में इतनी उन्नति करता है कि वह तो आशिक बन जाता है और अल्लाह माशूक। सूफ़ीमत में अल्लाह माशूक़ है और सूफ़ी आशिक़।

बक़ा

जीवन की पूर्णता ही को बक़ा कहते हैं। यह अल्लाह की वास्तविक स्थिति है। मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक जीव को इस स्थिति में आना पड़ता है। जो लोग ईश्वर के प्रेम में अपने को भुला देते हैं वे जीवन में ही बक़ा की स्थिति में पहुँच जाते हैं।
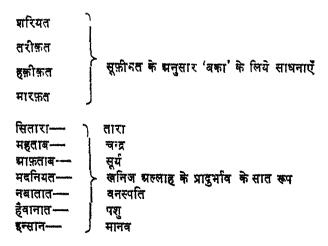
नासूत मलकूत जबरूत लाहूत हाहूत	मनुष्य अपने ही ज्ञान से ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये विकास की इन पाँच स्थितियों से होकर जाता है। प्रत्येक स्थिति उसे आगे की दूसरी स्थिति के योग्य बना देती है। इस प्रकार मनुष्य मानवीय जीवन के निम्नलिखित पाँच आसनों पर क्रमशः आसीन होता जाता है—प्रत्येक का स्वभाव भी अलग-अलग होता है।

आदम— साधारण मनुष्य
इंसान— ज्ञानी
वली— पवित्र मनुष्य
क़ुतुब— महात्मा
नबी— रसूल

इनके क्रमशः पाँच गुण हैं

अम्मारा— इंद्रियों के वश में,
लौवामा— प्रायश्चित करने वाला,
मुतमेन्ना— कार्य के प्रथम विचार करने वाला
आलिम— जो मन, क्रम, वचन से सत्य है
सालिम— जो दूसरों के लिए अपने को समर्पित करता है!

तत्व

नूर— आकाश,
बाद— वायु,

आतिश—	तेज
आब—	जल तथा
खाक—	पृथ्वी

इन तत्त्वों के अनुसार पाँच इन्द्रियाँ भी हैं

१ बसारत	देखने की शक्ति	आँख,
२ समाअत	सुनने की शक्ति	कान,
३ नगहृत	सूँघने की शक्ति	नाक,
४ लज्जत	स्वाद लेने की शक्ति	जीभ तथा
५ मुस	स्पर्श करने की शक्ति	त्वचा

इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा रूह मुरशिद की सहायता से बक़ा के लिए अग्रसर होती है।

मुरशिद आध्यात्मिक गुरु या पथप्रदर्शक।

मुरीद वह व्यक्ति जो सांसारिक बंधनों से रहित है, बड़ा अध्यवसायी है और श्रद्धा-पूर्वक अपने मुरशिद के अधीन है।

दर्शन और स्वप्न

खयाली	जीवन के विचारों का प्रतिरूप
क़लबी	जीवन के विचारों के विपरीत
नक़शी	किसी रूपक द्वारा सत्य का निर्देश
रूही	सत्य का स्पष्ट प्रदर्शन
इलाहामी	पत्र अथवा वाणी के रूप में ईश्वरीय संदेह का स्पष्टीकरण
गिज़ाई रूप	भोजन (संगीत) के सहारे ही आत्मा परमात्मा के मिलन-पथ पर आती है। संगीत में एक प्रकार का कंपन होता है जिससे आध्यात्मिक जीवन के कंपन की सृष्टि होती है।

संगीत के पाँच रूप

तरब	शरीर को संचालित करनेवाला (कलात्मक),
राग	मस्तिष्क को प्रसन्न करनेवाला (विज्ञानात्मक)
क़ौल	भावनाओं को उत्पन्न करनेवाला (भावनात्मक)
निंदा	दर्शन अथवा स्वरूप में सुन पड़नेवाला (अनुभावात्मक) तथा
सऊत	अनंत में सुन पड़नेवाला (आध्यात्मिक)
वजद	(Ecstasy) आनन्द ।
नेवाज़	इन्द्रियों को वश में करने के लिए साधन ।
वजीफ़ा	विचारों को वश में करने के लिए साधन ।

ध्यानावस्थित होने के पाँच प्रकार

ज़िकर	शारीरिक शुद्धि के लिए,
फ़िकर	मानसिक शुद्धि के लिए,
कसब	आत्मा को समझने के लिए,
शगल	परमात्मा में लीन होने के लिए तथा
अमल	अपनी सत्ता का नाश कर परमात्मा की सत्ता प्राप्त करने के लिए ।

●

कबीर का रहस्यवाद

चित्र—३
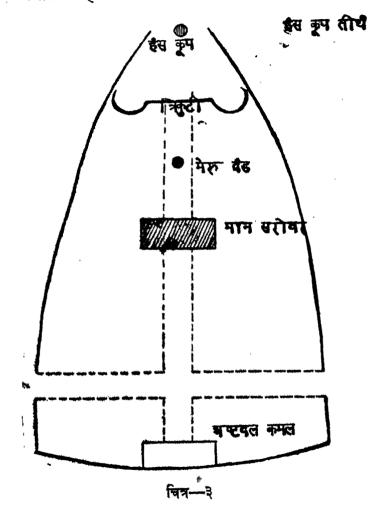
परिशिष्ट—घ

हंसकूप

लगभग ८० वर्ष हुए बिहार के स्वामी आत्माहंस ने इस हंसतीर्थ की स्थापना की थी। यह बी० एन० डब्लू रेलवे पर झूँसी में पूर्व की ओर है। तीर्थ का रूप एक विकसित कमल के आकार का है। इसमें इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियों का दिग्दर्शन भली-भाँति कराया गया है। बाईं ओर यमुना के रूप में इडा हैं और दाहिनी ओर गंगा के रूप में पिंगला। सुषुम्णा का विकास इस स्थान के उत्तरीय कोण में एक कूप में से हुआ है। स्थान के मध्य में एक खंभा है जो मेरुदण्ड का रूप है। उस पर सर्पिणी के समान कुंडलिनी लिपटी हुई है। मेरुदण्ड से आगे एक मंदिर है जिस पर त्रिकुटी लिखा हुआ है। त्रिकुटी के दोनों ओर आँख के आकार के दो ऊँचे स्थल हैं। त्रिकुटी की विरुद्ध दिशा में एक मंदिर है जिसमें अष्टदल कमल की मूर्ति है। कुंडलिनी मेरुदल का सहारा लेकर अन्य चक्रों को पार करती हुई इस अष्टदल कमल में प्रवेश करती है। यह स्थान बहुत रमणीक है। कबीर के हठयोग को समझने के लिए यह तीर्थ अवश्य देखना चाहिए।

●

परिशिष्ट—ङ

सहायक पुस्तकों की सूची

अँग्रेजी

१. मिस्टिसिज़्म

लेखक—इवलिन अंडरहिल

२. दि ग्रेसेज ऑव् इंटीरियर प्रेयर

लेखक—आर० पी० पूलेन

अनुवाद—लियोनोरा एल० यार्कस्मिथ

३. स्टडीज इन मिस्टिसिज़्म

लेखक—आर्थर एडवर्ड वेट

४. पर्सनल आइडियलिज़्म एण्ड मिस्टिसिज़्म

लेखक—विलियम राल्फ़ इन्ज

५. स्टडीज इन हीथेनडम् एण्ड क्रिश्चियनडम्

लेखक—डा० ई० स्लेमन

अनुवाद—जी० एम० जी० हंट

६. मिस्टिसिकल एलीमेंट इन मोहमेद

लेखक—जॉन क्लर्क आर्चर

७. दि योग फ़िलासफ़ी

संग्रहकर्ता—भागु० एफ० करभारी

८. दि मिस्टिसिज़्म ऑव् परसोनालिटी इन सूफ़ीज़्म

लेखक—रेनाल्ड ए० निकलसन

९. दि मिस्टिसिज़्म ऑव् साउंड

लेखक—इनायत खाँ

१०. हिन्दू मेटाफ़िज़िक्स
लेखक—मन्मथनाथ शास्त्री

११. दि मिस्टीरियस कुंडलिनी
लेखक—बसंत जी० रेले

१२. योग
लेखक—जे० एफ० सी० फ़ुलर

१३. दि पर्शियन मिस्टिक्स (जामी)
लेखक—हेडलेंड डेविस

१४. दि पर्शियन मिस्टिक्स (रूमी)
लेखक—हेडलेंड डेविस

१५. सूफ़ी मैसेज
लेखक—इनायत खाँ

१६. राजयोग
लेखक—मनिलाल नाभूभाई द्विवेदी

१७. कबीर एंड दि कबीर पंथ
लेखक—वेकसट

१८. दि ग्राक्सफ़र्ड बुक ग्रॉव् मिस्टिकल वर्स
निकलसन ग्रौर ली (संपादक)

हिन्दी

१. बीजक श्री कबीर साहब का
(जिसकी पूर्णदास साहेब, बुरहानपुर नागभरीं स्थानवाले ने ग्रपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा त्रिज्या की है।

२. कबीर ग्रंथावली
संपादक—श्यामसुन्दर दास, बी० ए०

३. कबीर साहब का पूरा बीजक
पादरी ग्रहमद शाह

४. संतवानी संग्रह भाग १—२
प्रकाशक—बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद
५. कबीर साहब की ग्यान गुदड़ी रेखते और झूलने
प्रकाशक—बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद
६. कबीर चरित्र बोध
युगलानंद द्वारा संशोधित
७. योग-दर्पण
कन्नौमल एम० ए०
८. कबीर वचनावली
अयोध्यासिंह उपाध्याय

फारसी

१. मसनवी
जलालुद्दीन रूमी
२. दीवान-ए शमसी तबरीज
३. तज़किरातुल औलिया
मुहम्मद अब्दुल अहद (संपादक)
४. दीवान जामी

संस्कृत

१. योग-दर्शन—पतंजलि
२. शिवसंहिता
अनुवादक—श्रीशचन्द्र
३. घेरंडसंहिता
अनुवादक—श्रीशचंद्र वसु

परिशिष्ट—च

कबीर के पदों की अनुक्रमणी

व

स

ह

परिशिष्ट—छ

नामानुक्रमणी

●